

ISSN 2348-8425

Satraachee

अंक 7 एवं 8

अप्रैल-जून-सितम्बर 2015

सत्राची

प्रधान संपादक : * डॉ. रूपम

संपादक : * आनन्द बिहारी

सत्राची

सलाहकार समिति

- प्रो० धर्मशीला प्रसाद,
प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग; पटना विश्वविद्यालय, पटना।
Mob No. 09835438983
- प्रो० शशि शर्मा,
प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, राजनीतिविज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना
E-mail: prof.shashisharma@gmail.com, Mob. 09470609888.
- प्रो० मुक्तेश्वर नाथ तिवारी,
प्राध्यापक, हिंदी विभाग, विश्व भारती, शांति निकेतन। संपादक, विश्वभारती पत्रिका।
Mob No. 09474765831
- डॉ० आशुतोष पार्थेश्वर,
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, ओरिएंटल कॉलेज, पटना सिटी, पटना।
E-mail: parthdot@gmail.com, Mob No. 09934260232
- डॉ० कमलेश वर्मा,
अध्यक्ष, हिंदी विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी,
E-mail: kamleshvermajnu@gmail.co Mob No. 09415256226
- डॉ० राजू रंजन प्रसाद,
अध्यापक एवं आलोचक (इतिहास, हिंदी साहित्य), पटना।
E-mail: rajooranjan@gmail.com, Mob. 08294307626
- डॉ० सुधा ओझा,
अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, जे. डी. वीमेन्स कॉलेज, पटना।
- डॉ० पुष्पलता कुमारी,
अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, मगध महिला महाविद्यालय, पटना।
E-mail : drpushpalatammc@gmail.com, Mob. 09431402736

अंक 7 एवं 8

अप्रैल - जून - सितम्बर 2015

संपादन : रूपम * आनन्द बिहारी

संपादन / प्रकाशन : अचैतनिक / अब्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक :

रूपम एवं आनन्द बिहारी

सालिमपुर अहरा, कदमकुआँ, पटना - 800003.

मुद्रण :

पाकिजा ऑफसेट, शाहगंज, दरगाह रोड, पटना-6.

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।

मूल्य : एक प्रति 150 रुपए

सदस्यता शुल्क (लेखकों के लिए) :

पंचवार्षिक	: 3000 रुपए
	: 4000 रुपए (विशेषांक सहित)
आजीवन	: 5000 रुपए
	: 7000 रुपए (विशेषांक सहित)

संपादकीय संपर्क :

डॉ. रूपम / आनन्द बिहारी

C/O - केशव गुप्ता,

केशव कुंज, बॉलिया चॉक, सालिमपुर अहरा, कदमकुआँ, पटना-800003,

website : www.satraachee.weebly.com

E-mail : satraachee@gmail.com

Mob No. : 08986903183.

सहयोगी लेखक

- पूनम सिन्हा, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, बी. आर. ए. बी. यू., मुजफ्फरपुर।
- सुमन कुमार, संपादक, देश के पहरेदार, साप्ताहिक समाचार पत्र, पटना।
- सजल प्रसाद, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, मारवाड़ी कॉलेज, किशनगंज ।
- अर्चना चंदेल, विभागाध्यक्ष, हिंदी, नेताजी सुभाषचंद्र बोस, शासकीय कन्या महाविद्यालय, सितनी, मध्य प्रदेश।
- हरदीप कौर, सहायक प्राध्यापक, हिंदी पत्रकारिता विभाग, गुरुनानक खालसा कॉलेज, दिल्ली ७.
- जगमोहन सिंह, शोधप्रज्ञ, हिंदी भवन, विश्वभारती, शांतिनिकेतन, पश्चिम बंगाल ।
- वितरंजन कुमार, + व्याख्याता, बी. बी. कॉलेजिएट, मुजफ्फरपुर।
- मधुप कुमार, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, श्रीगणेश राय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, डोभी, जौनपुर, उत्तर प्रदेश।
- सुमी गोप, शोधप्रज्ञ, हिंदी, चेन्नई। (लेखिका से संबंधित अन्य सूचना अज्ञात है।)
- रेणुका सुरेश, शोधप्रज्ञ, हिंदी, चेन्नई। (लेखिका से संबंधित अन्य सूचना अज्ञात है।)
- मदन कुमार चौरसिया, शोधप्रज्ञ, हिंदी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।
- सुधा बाला, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा।
- राकेश कुमार सिंह, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
- टी. टी. अरुणा, शोधप्रज्ञ, उच्च शिक्षा एवं शोध संस्थान, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास, १/४८ स्टालीन स्ट्रीट बालजा बात रोड, वंडलूर - ६०००४८.
- अरुणा चौधरी, अध्यक्ष, मैथिली विभाग, मगध महिला महाविद्यालय, पटना ।
- विमलेश कुमार, शोधप्रज्ञ, भूगोल विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा बिहार।
- जनार्दन प्रसाद, अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, मगध महिला महाविद्यालय, पटना।
- सुजाता चंद्रा (लेखिका से संबंधित अन्य सूचना अज्ञात है।)



अनुक्रम

संपादकीय	07
1. अब हमें हुस्न का मेयार बदलना होगा पूनम सिन्हा	09
2. प्रेमचंद के कथा-साहित्य में सांप्रदायिक संघर्ष का स्वरूप मुमन कुमार	14
3. दलित साहित्य में स्त्री विमर्श सजल प्रसाद	21
4. हिंदी भाषा : उत्थान और पतन अर्चना चंदेल	26
5. भूमंडलीकृत समाज और स्त्री हरदीप कौर	31
6. भारतेन्दु तथा समकालीन हिंदी पत्रकारों की स्वदेशी चेतना जगमोहन सिंह	34
7. उपन्यास के सामाजिक जीवन का चित्रण : सैद्धांतिक पक्ष चितरंजन कुमार	40
8. विद्यापति की सौंदर्य चेतना : सांस्थानिक मूल्य और स्वतंत्रता का अंतर्द्वंद्व मधुप कुमार	51
9. द्विवेदी युगीन काव्य पर कबीर का प्रभाव सुमी गोप	57
10. शमशेर की कविताओं में प्रकृति चित्रण रेणुका सुरेश	62
11. हिमांशु श्रीवास्तव के उपन्यासों में प्रगतिवादी तत्व मदन कुमार चौरसिया	66
12. यथार्थवादी उपन्यासों में स्त्री-विमर्श मुधा बाला	70
13. प्रेमचंद की वैचारिक प्रतिबद्धता और उनका साहित्य राकेश कुमार सिंह	74
14. 'मुआवज़े' तथा 'रंग दे बसंती' का कथ्य टी. टी. अरुणा	78

15. वेदना-विह्वल मन अरुणा चौधरी	82
16. डिजिटल इंडिया : ग्रामीण समाज के लिए वरदान विमलेश कुमार	85
21. Relevancy of Gandhian Economic Philosophy in Present Scenario <i>Janardan Prasad</i>	89
21. Inclusive Education : A Distant Reality <i>Sujata Chandra</i>	93



'विकास की विचारधारा' बनाम 'संचार की विचारधारा'

इसमें कोई शक नहीं है कि सूचना तंत्र के विकास ने हमें एक बेहतर दुनिया दी है, और हमारा जीवन पहले की अपेक्षा काफी आसान हुआ है। लेकिन इसके कुछ दूसरे पहलू भी हैं जो अत्यंत महत्वाकांक्षी और जनतंत्र विरोधी हैं। खास बात यह है कि अब जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को स्पर्श करता हुआ यह तंत्र जीने की प्रत्येक प्रणाली पर अपने कब्जे की दावेदारी भी करने लगा है। इसकी चकाचौंध से लोग इस तरह अभिभूत हैं कि इसमें किसी को कुछ गलत नजर नहीं आ रहा है। इंटरनेट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के आकर्षण में आलोचनात्मक दृष्टि का पैनापन लगभग कुंद पड़ चुका है। विकासवादी नजरिए के दबाव के आगे राजनीतिज्ञों की भी नहीं चल रही। आज प्रत्येक समस्या एक तकनीकी समस्या है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। इस विचार ने एक तरफ राजनीतिज्ञों को नकारना शुरू कर दिया है तो दूसरी तरफ लगभग प्रत्येक मामले से सामाजिक संवाद गायब है। तात्पर्य यह कि जनतंत्र की जड़ें खुद चुकी हैं, और उसकी इमारत कभी भी गिर सकती है।

वस्तुतः यह बाजारवादी शक्तियों के द्वारा किया जाने वाला एक वैचारिक हमला है, जिसके तहत वे संचार तंत्र से संबंधित किसी नियमन को स्वीकार नहीं करते। अगर कभी नियमन का प्रयास होता भी है तो यह कहकर खारिज कर देने में वे सफल हो जाते हैं कि **'जनतंत्र में उपभोक्ता को ही निर्णय लेने का अधिकार है।'** और सूचना तंत्र का नियमन उसके इस अधिकार का हनन है। इस प्रकार जनवाद के खिलाफ जनतंत्र का सटीक किंतु खतरनाक इस्तेमाल किया जा रहा है। सूचना तंत्र प्रगति और विकास को कोई भी दिशा दे सकता है। अगर जनता ने उस दिशा को समर्थन दिया तो ठीक, नहीं तो गलत। अब सवाल उठता है कि जनता की आलोचनात्मक क्षमता का स्तर क्या है, क्या वह सूचनाओं के महाजाल में तैरती हुई सही दिशा का अनुसंधान कर सकती है? जवाब साफ है, लेकिन, अगर विकासवादी चाहें तो इसे पेचीदा भी कह सकते हैं। गौर से देखिए तो इसे समझना उतना पेचीदा नहीं है जितना विकासवादी कहते हैं। भारत जैसे देश में संचार माध्यमों के अलावा सच्चाई तक पहुँचने के कितने रास्ते हैं और वे रास्ते बाजार की गिरफ्त से कितने मुक्त हैं? आज हम जिस दौर से गुजर रहे हैं, वहाँ किसी भी चीज को समझने का सुगम तरीका प्रायः संचार माध्यमों के द्वारा मुहैया कराया जाता है। अर्थात् संचार माध्यम ही किसी चीज को समझने के लिए जनता की आँख बन चुके हैं। इस प्रकार संचार माध्यम जिस सत्य तक ले जाएंगे वही मान्य होगा। अर्थात् हमारी अपनी दृष्टि से देखी गई चीजें सदिग्ध और अमान्य होंगी, क्योंकि सत्यान्वेषण के लिए आम जनता के पास अन्य प्रामाणिक एवं सुगम साधनों की उपलब्धता लगभग नहीं के बराबर है। दूसरे शब्दों में, हमारी मौलिक दृष्टि पर ही पहरा लगा दिया गया है जिससे हम बेखबर हैं। इतना ही नहीं तकनीक, समाज और जनतंत्र पर बुद्धिजीवियों की राय को तवज्जो देने की जगह उनके

रुतवे का उग्र बदलाव भी किया जा चुका है। वर्तमान समय के बुद्धिजीवी मोहभंग की स्थिति में हैं, उन्होंने समाज के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण से अपने को अलग कर लिया है। और यही वह समस्या है, जहाँ जनतंत्र की आँखें वही देखती हैं जो संचार के विविध माध्यमों के द्वारा परोसा जाता है। और आज सभी संचार माध्यम तकनीक की प्रगति को ही प्रगति बता रहे हैं। अर्थात् **‘विकास की विचारधारा’** की जगह **‘संचार की विचारधारा’** ने ले ली है। विकास की विचारधारा के केन्द्र में जनता थी, जबकि संचार की विचारधारा में अंतहीन आर्थिक तरक्की का सपना है जो केवल विश्व के चंद्र प्रतिशत लोगों के लिए है, विश्व के 85 प्रतिशत लोग इससे न केवल वंचित रहेंगे, बल्कि उनके शोषण पर ही यह सपना पूरा किया जाएगा। सकल विश्व के संदर्भ में इस सपने का कोई मतलब नहीं है। यह अर्थव्यवस्था का भ्रमित दौर है जो किसी पागलपन से कम नहीं है।

सूचना तंत्र विविधताओं की प्राथमिकता पर अवस्थित है। इसके द्वारा हजारों की संख्या में सूचना उत्पादों की घुसपैठ से हम आसानी से दुविधाग्रस्त होते हैं। यह अत्यंत चिंतनीय विषय है, क्योंकि इसी दुविधाग्रस्त स्थिति से जमीर कुंद पड़ता चला जाता है। सूचनाओं की सघनता और उनके प्राप्त होने की गति इतनी तेज होती है कि हमारे पास सूचनाओं को राजनीतिक होशियारी के साथ परखने का समयाभाव रहता है। चैनलों की अधिकता से इस स्थिति में एक बेहद खतरनाक और भयानक मोड़ आया है। इसने एक खास प्रकार के सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया को जन्म दिया है। और इस प्रक्रिया में कुछ भी सुरक्षित नहीं है, न गुणवत्ता और न ही मात्रा। यहाँ तक कि शिक्षा को भी सुरक्षित रखना असंभव हो गया है। अब जो कुछ दिन में शिक्षालयों में पढ़ाया जाता है, उसे रात को टेलीविजन नष्ट कर देता है। आश्चर्य की बात यह है कि हमारे समाज में इन बातों को लेकर किसी प्रकार का कोई बहस नहीं हो रहा है। विश्वस्तरीय प्रतिरोध एवं संघर्षों की सूची में ऐसे किसी आंदोलन का नाम दर्ज नहीं है, जबकि हमारे पास तमाम तर्क मौजूद हैं, जिसके आधार पर सूचना तंत्र और संचार द्वारा पैदा किए जाने वाली चुनौती के खिलाफ आवाज उठा सकते हैं।

भारत के प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी भारतीय संचार तंत्र को एक नई ताकत देने जा रहे हैं, उन्होंने डिजिटल इंडिया का नारा भी दे दिया है। निश्चित तौर पर वे अपने इरादों को मूर्त रूप देंगे। इसके अनेक कारण हैं, जिसकी पड़ताल यहाँ प्रासंगिक नहीं है। सवाल केवल इतना है कि आखिर सूचना तंत्र को विकास का पर्याय बनाकर कबतक परोसा जाएगा ? क्या भारत के बुद्धिजीवी इसे आलोचनात्मक एवं जनवादी नजरिए से देखने का प्रयास नहीं करेंगे ? क्या भारत के विकास का मतलब संचार तंत्र की मजबूती मात्र है ? अगर ऐसा ही है तो भारत की आम जनता का भविष्य क्या है ...?

— रूपम

(प्रधान संपादक)

अब हमें हुस्न का मेयार बदलना होगा

– पूनम सिन्हा

अथर्ववेद में निर्देश है, 'स्त्री को चाहिए कि वह पति से विरोध या कलह न करे, अपितु उसके अनुकूल रहकर उसकी प्रियता प्राप्त कर अपने ऐश्वर्य में वृद्धि करे।' कुरआन की आयतों के अनुसार 'पुरुष स्त्रियों के स्वामी हैं। जो नेक स्त्रियाँ होती हैं, वे आज्ञाकारी और अपने रहस्यों की रक्षा करनेवाली होती हैं। जिन स्त्रियों से विद्रोही होने का भय हो-उन्हें समझाओ, उन्हें अपने बिस्तरों से दूर रखो और उन्हें कुछ सजा दो।' मौलाना अशरफ अली थानवी अपने ग्रंथ 'बहिश्ती जेवर' में पति के साथ सामंजस्य बैठाने के गुर बताते हुए लिखते हैं, 'जहाँ तक हो सके मियाँ का दिल हाथ में लिये रहो और उसकी आँख के इशारे पर चला करो।.... अगर वह दिन को रात बतलाए तो तुम भी दिन को रात कहने लगो। शौहर किसी बात पर तुमसे खफा होकर रूठ जाये तो तुम भी गाल फुलाकर न बैठी रहो, बल्कि खुशामद करके, माफी-तलाफी करके हाथ जोड़ के जिस तरह बने, उसको मना लो। चाहे तुम्हारा कसूर न हो, शौहर का ही कसूर हो, तब भी तुम हरगिज न रूठो और हाथ जोड़कर कसूर माफ कराने को अपनी इज्जत समझो। अगर मर्द औरत को हुक्म दे कि इस पहाड़ के पत्थर उठाकर उस पहाड़ तक ले जाए, और उस पहाड़ को उठाकर तीसरे पहाड़ पर ले जाए, तो उसको यही करना चाहिए।'

रखमाबाई ने अपने पति की ज्यादतियों के विरोध में कानून का सहारा लिया। उन्होंने चार वर्षों (1884-1887) तक अपने हक के लिए निरंतर लड़ाई लड़ी और जब अपने पक्ष में फैसला पाया तो नवजागरण के प्रमुख पुरोधाओं के रूप में माने-जाने वाले प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट ने प्रतिकूल एवं उत्तेजक प्रतिक्रियाएँ दीं। प्रतापनारायण मिश्र ने कोर्ट के फैसले को पतिव्रता स्त्रियों के खिलाफ माना और बालकृष्ण भट्ट ने कहा, 'हा! काल की क्या कराल महिमा है कि आज रखमाबाई सरीखी स्त्रियाँ सतीत्व-स्वरूप निर्मल चन्द्रमा के ग्रास करने को राहु रूप में उतरी।'

स्वाधीनता आंदोलन को धर्म और उदात्त नैतिक मूल्यों से जोड़कर गाँधी ने साम्राज्यवाद के समक्ष जो चुनौती खड़ी की, अन्याय के खिलाफ सत्य और न्याय का जो उद्घोष किया, वह निःसंदेह अन्याय के सफल प्रतिकार का एक इतिहास बना; किन्तु गाँधी समेत राष्ट्रवादियों को महिलाओं की मुक्ति तथा उत्थान से कोई विशेष सरोकार नहीं था, बल्कि उनका प्रयोजन स्त्रियों के त्याग, बलिदान, सेवा, ममत्व जैसे उदात्त गुणों के सफलतापूर्वक उपयोग का था। (द नेशन एण्ड इट्स फ्रैग्मेन्ट्स-पार्थ चटर्जी)

इस युग के साहित्यकारों के चिन्तन की भी लगभग यही सीमा थी। नवजागरणकालीन समाज सुधारकों ने भी स्त्री-दशा पर विचार करने की अपेक्षा अन्य सामाजिक कुरीतियों की ओर अधिक ध्यान केन्द्रित किया। निष्कर्ष यह कि राजनीतिक नेता हों, समाजसुधारक अथवा साहित्यकार हों- स्त्री मुक्ति को लेकर इनमें अंतर्विरोध दिखाई देता है। ऐसा नहीं कि प्रेमचंद इस अंतर्विरोध से पूरी तरह मुक्त हैं, किन्तु

उपर्युक्त संदर्भों में हम जब उनकी स्त्री विषयक अवधारणा पर विचार करते हैं तो वे स्त्री विषयक चिन्तन में अपने समय से बहुत आगे दिखाई देते हैं। 1931 में प्रेमचंद 'विविध प्रसंग' में वे कहते हैं 'हिन्दू समाज ने अपनी देवियों के साथ बहुत दिनों तक जुल्म किया और अब उस जुल्म को खोदने में देर नहीं करनी चाहिए।

यहाँ विवेचन के केन्द्र में उनके उपन्यास 'गोदान' की प्रमुख स्त्री पात्र धनिया है। 'गोदान' उनकी रचनात्मक यात्रा के अंतिम पड़ाव की रचना है। 'गोदान' के स्त्री पात्रों में धनिया का व्यक्तित्व प्रखरता में अलग से ध्यान खींचता है। धनिया प्रेमचंद की सृष्टि होते हुए भी अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का एहसास कराती है। उसके साथ हमारे गहन तादात्म्य के पीछे एक बड़ा कारण यह है कि बेलारी गाँव की धनिया को प्रेमचंद ने सीधे उसके मौलिक एवं प्रकृत रूप में 'गोदान' में रख दिया है। यह अकृत्रिम स्वरूप 'गोदान' की किसी अन्य स्त्री पात्र का नहीं है। बेलारी गाँव के लोगों की हिकमत तो उसपर नहीं ही चलती है ऐसा लगता है कि स्वयं प्रेमचंद की हिकमत भी उसपर नहीं चलती है। धनिया की सर्जना प्रेमचंद जैसे लेखक के वश की ही बात थी। हमारे हिंदी कथा संसार में धनिया जैसी कोई दूसरी स्त्री पात्र नहीं है; स्त्री-विमर्श की डफली हम कितना भी बजा लें। रीति काव्य की तमाम नायिकाएँ धनिया के श्रम-सौन्दर्य एवं आत्मिक सौन्दर्य के आगे पानी भरती दिखाई देती हैं। प्रेमचंद ने सौन्दर्य की परिभाषा बदल डाली। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि 'अब हमें हुस्न का मेयार बदलना होगा।' धनिया जहाँ कहीं अन्याय, अत्याचार एवं शोषण देखती है, अपनी जबान के हथौड़े से प्रहार करने में नहीं चुकती है। होरी के व्यक्तित्व की कमी की क्षति-पूर्ति धनिया करती है। उसका जीवन-संघर्ष होरी के जीवन-संघर्ष से अलग नहीं है और न ही कम। रामविलास शर्मा कहते हैं, 'धनिया मरती नहीं, पर उसकी ट्रेजेडी मृतप्राय होरी की ट्रेजेडी से कम नहीं है।' उपन्यास के प्रारंभ से ही वह होरी की चिन्ता करती दिखती है। उपन्यास के अंत में भी वह होरी की प्राण-रक्षा के लिए छटपटाती हुई भाग-दौड़ कर रही होती है। उपन्यास में उसके आद्यन्त संघर्ष को देखते हुए तुलसीदास की पंक्तियाँ ध्यान में आती हैं, 'डासत ही गई बीति निशा सब कबहुं न नाथ नींद भरि सोई।' लाख विरोध के बावजूद ब्राह्मणी व्यवस्था एवं सामाजिक रूढ़ परंपरा से वह अंत तक छुटकारा नहीं पाती। होरी जीवन भर गाय के लिए तरसता रहा और गाय के लिए पैसे कमाने के चलते ही उसने अपने प्राण दांव पर लगा दिए। अगर गाय दरवाजे पर होती तो वह पंडित देवता के हाथों में चली जाती। होरी के गोदान के नाम पर धनिया की दिन भर की कमाई बीस आने पैसे पंडित दातादीन के पास चले जाते हैं। 'धनिया यन्त्र की भांति उठी, आज जो सुतली बेची थी उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ढंडे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली- महाराज, घर में गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही उनका गो-दान है। और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।' धनिया जैसी जीवट वाली स्त्री का पछाड़ खाकर गिरना क्रूर सामाजिक व्यवस्था की जीत है एवं निश्छलता, ईमानदारी एवं कर्मठता की हार। कथा के प्रारंभ से ही धनिया अन्याय के प्रतिरोध में निर्भीकतापूर्वक खड़ी होती है। उसके प्रतिरोध का शोषणतंत्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। कथा के प्रारंभ में पैसे के अभाव में बिना दवा-दारू के अपने तीन बच्चे की मौत की हुड़कन उसके कलेजे में है और अंत में पैसे के अभाव में मरणासन्न पति का इलाज नहीं करवा पाने की हुड़कन। 'आँखों से आँसू गिर रहे थे, मगर यंत्र की भांति दौड़-दौड़कर कभी आम भूनकर पना बनाती, कभी होरी की देह में गेहूँ की भूसी की मालिश करती। क्या करे, पैसे नहीं हैं, नहीं किसी को भेजकर डाक्टर बुलाती।'

प्रेमचंद ने धनिया का चित्रण जीवन की समग्रता में किया है; जीवन के एक टुकड़े (Slice

of life) तक उनकी दृष्टि सीमित नहीं है। धनिया को यथार्थ जीवन से उठाकर उन्होंने 'गोदान' में रखा है, किन्तु उनकी इच्छा के अनुरूप स्त्री-चरित्र वही है। डॉ. रामविलास शर्मा कहते हैं, "धनिया का चरित्र उससे (होरी से) काफी भिन्न है। वह मर्दों के बराबर काम करती है, इसके सिवा घर का काम देखती है। उसे दूसरों का वह लिहाज नहीं है, जो होरी को है। वह अन्याय के विरुद्ध पाठक और लेखक की भावनाओं को व्यक्त करने का एक माध्यम है। ऊपर से कठोर है, हृदय बहुत ही कोमल है। प्रेमचंद के नारी पात्रों में वह अन्यतम है। उसके बराबर और न कोई परिश्रम करनेवाली है, न और किसी पर सरस्वती की ऐसी कृपा है।" (प्रेमचंद और उनका युग, पृष्ठ-107) वह परिश्रमी, ईमानदार सच्चरित्र एवं निर्लोभी है। अन्याय के विरुद्ध साहस के साथ खड़ी होती है। पीड़ित जन के लिए उसका हृदय मोम की तरह पिघल जाता है। वह दया-ममता, नेह-छोह, एवं उदारता से भरी है। प्रेमचंद की ऐतिहासिक समझ बिल्कुल साफ थी। वे प्रतिगामी एवं प्रगतिशील तत्त्वों को एक साथ देख-परख रहे थे एवं प्रगतिशील तत्त्वों के साथ थे। उपन्यास के आरंभ में ही धनिया होरी को जेठ की गर्मी में जमींदार के यहाँ जाने से मना करती है। 'उसका विचार था कि हमने जमींदार के खेत जोते हैं, तो वह अपना लगान ही तो लेगा। उसकी खुशामद क्यों करे, उसके तलवे क्यों सहलायें।' होरी का मानना था कि- 'जब दूसरे के पांवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पांवों को सहलाने में ही कुशल है।' इन दो विपरीत प्रतिक्रियाओं से होरी एवं धनिया के व्यक्तित्व की भिन्नता का पता चलता है। प्रेमचंद ने लिखा है, 'जो विद्या पढ़कर पुरुष रोटी कमाता है और इसलिए औरतों को अपनी लौंडी समझता है वही विद्या स्त्रियाँ भी सीखना चाहती है। वह खाना क्यों पकाए, वकालत क्यों न करे, अध्यापिका क्यों न बने?' (विविध प्रसंग 3, पृ0-266) धनिया जिस वर्ग की है वह वर्ग शिक्षा से नहीं, श्रम-संस्कृति से जुड़ा है। खेत में हल चलाता है, ईख पेरता है, उपले पाथता है, मनो अनाज सिर पर ढोकर खलिहान से घर तक पहुंचाता है। धनिया श्रम करने में किसी पुरुष से कम नहीं है। अतः अन्याय के खिलाफ विरोध करने का जज्बा भी उसमें है। हीरा जब उसकी गाय को जहर देकर मार देता है तो दारोगा तहकीकात के लिए आता है। हीरा के घर की तलाश न हो इसलिए झूठी मर्यादा की रक्षा के लिए गाँव के लोगों से कर्ज लेकर होरी जब दारोगा को रिश्वत देने के लिए बढ़ता है तो धनिया झपट्टा मारकर अंगोछी के पैसे छितरा देती है। आती हुई रकम के इस तरह छीन जाने से दारोगा जी खिसियाकर बोले- "मुझे मालूम होता है कि इस शैतान की खाला ने हीरा को फंसाने के लिए खुद गाय को जहर दे दिया।" पुलिस की पगड़ी देखकर जब गाँव के किसी भी मर्द को थरथरी छूटती थी उस समय धनिया दारोगा को ललकारते हुए कहती है, 'हाँ, दे दिया, अपनी गाय थी, मार डाली, फिर किसी दूसरे का जानवर तो नहीं मारा? तुम्हारे तहकीकात में वही निकलता है तो यही लिखो। पहना दो मेरे हाथ में हथकड़ियाँ। देख लिया तुम्हारा न्याय और तुम्हारे अक्कल की दौड़। गरीबों का गला काटना दूसरी बात है, दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी बात।' इतना ही नहीं गाँव के मातबर कहलाने वाले लोगों को भी वह नहीं छोड़ती। 'मैं सब जानती हूँ। यहाँ तो बांट-बखरा होने वाला था। सभी के मुँह मीठे होते। ये हत्यारे गाँव के मुखिया हैं गरीबों का खून चूसने वाले। सूद-ब्याज, डेढ़ी-सवाई, नजर-नजराना, घूस-घास जैसे भी हो, गरीबों को लूटो। उस पर सुराज चाहिए। जेहल जाने से सुराज न मिलेगा। सुराज मिलेगा, धरम से न्याय से।' उसे अपने श्रम पर भरोसा है। होरी जब भरे गाँव के सामने उसे मारता है तो वह उससे कहती है, 'आज से अपना घर संभाल। देख तो इसी गाँव में तेरी छाती पर मूंग दलकर रहती हूँ कि नहीं और इससे अच्छा खाऊँ, पहनूँगी, इच्छा हो, देख लो।' धनिया के द्वारा अपनी अस्मिता, स्वतंत्रता एवं सम्मान का यह जयघोष आज के किसी स्त्री

विमर्शकार के विमर्श के स्वर से कहीं अधिक प्रखर एवं यथार्थवादी है।

धनिया को न कभी दोनों जून भरपेट सही ढंग का भोजन मिला न शरीर पर सही ढंग से वस्त्र। पूरे परिवार के साथ दिन-रात का खटना, कर्ज के दल-दल में धंसते चले जाना यही नियति है उसकी। वक्त की मार ने उसके शरीर एवं बोली की मिठास छीन ली। वह तो नारियल की तरह ऊपर से सख्त किन्तु अन्दर से मीठे पानी एवं गिरी से युक्त है। उसका बेटा गोबर जब झुनिया को गर्भावस्था में घर के दरवाजे पर छोड़कर लखनऊ भाग जाता है तो गुस्से के प्रारंभिक उबाल के बाद वह उसे अपने घर में बहू के प्यार एवं सम्मान के साथ रखती है। वह गोबर की ब्याहता नहीं है। अतः पंचायत होरी पर दंड थोपती है, जिसे होरी स्वीकार करता है। धनिया के लिए 'मरजाद' एवं 'बिरादरी' से ऊपर उसका मानवधर्म है। वह पंचों को फटकारती है—“मैं न एक दाना अनाज दूंगी और न एक कौड़ी डांडू। जिसमें बूता हो चलकर मुझसे ले।” भ्रष्ट दातादीन झुनिया के विषय में धनिया से कहता है कि 'तुम्हें इस दुष्ट को घर में न रखना चाहिए था। लड़कों से इस तरह की भूल-चूक होती रहती है।' धनिया तीव्र स्वर में प्रतिवाद करती है—“हमको कुल-परतिसठा इतनी प्यारी नहीं है महाराज कि उसके पीछे एक जीव की हत्या कर डालते। ब्याहता न सही पर उसकी बांह तो पकड़ी है मेरे बेटे ने ही। किस मुँह से निकाल देती। वही काम बड़े-बड़े करते हैं, मुदा उनसे कोई नहीं बोलता, उन्हें कलंक ही नहीं लगता। वही काम छोटे आदमी करते हैं, तो उनकी मरजाद बिगड़ जाती है, नाक कट जाती है। बड़े आदमियों को अपनी नाक दूसरों की जान से प्यारी होगी, हमें तो अपनी नाक इतनी प्यार नहीं।” न कहीं कोई दुराव न छिपाव। जो बोलती है, डंके की चोट पर बोलती है। इसलिए लोग उससे घबराते भी हैं। होरी की तरह वह नरम चारा नहीं है। अन्याय एवं शोषण के खिलाफ होरी के दब्बूपन से पाठक तिलमिला जाता है तो उस तिलमिलाहट की क्षतिपूर्ति धनिया के विद्रोही व्यक्तित्व से होती है। हालाँकि, वह कोई शिकायत बहुत देर तक मन में नहीं रखती है। होरी से भी तकरार होती है तो इस तकरार का अंत वह अपनी चुहल से करती है। बेटा-बहू के व्यवहार से आहत होती है, किन्तु जब वे उसके पास आते हैं तो वह मन में मलाल नहीं रखती है, होरी किसान से मजदूर बनता है। दातादीन जब होरी से उसकी क्षमता से अधिक काम लेना चाहता है। तो वह दातादीन से कहती है “क्या जरा दम भी न लेने दोगे महाराज! हम भी तो आदमी हैं। तुम्हारी मजूरी करने से बैल नहीं हो गये। जरा मूड़ पर एक गट्टा लादकर लाओ तो हाल मालूम हो।” जहाँ वह अन्याय देखती है, अपना हित अनहित विचार किए बिना न्याय के पक्ष में खड़ी हो जाती है। उत्तर आधुनिक स्त्री-विमर्श पर भाषण करना और बात है, किन्तु अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को दाँव पर लगाकर किसी को अपनी छाया में लेना और बात है। गाँव भर की कोपभाजन होने का खतरा उठाकर भी वह सिलिया को अपने घर में पनाह देती है। होरी जब चमारों के द्वारा दातादीन के मुँह में हड्डी टूंसने की घटना की निंदा करता है तो धनिया उसे फटकारती है, 'मरद मरद सब एक होते हैं। इसको मतई ने बेधरम किया तब तो किसी को बुरा न लगा। अब जो मतई बेधरम हो गये तो क्यों बुरा लगता है? क्या सिलिया का धरम, धरम ही नहीं है?' अगर धनिया ने कुंआरी गर्भवती झुनिया एवं सिलिया को आश्रय नहीं दिया होता दिया तो हो सकता था कि उनके पैर आत्महत्या की ओर बढ़ जाते। यहाँ यह चर्चा प्रासंगिक होगी कि 1884 में मार्क्स और एंजिल्स ने कम्युनिस्ट घोषणा पत्र (मेनीफैस्टो) प्रकाशित किया, जिसने दुनिया भर के सताये और दबे-कुचले लोगों को अपना भाग्य बदल डालने के लिए प्रेरित किया। उसी कालखण्ड में महाराष्ट्र के ज्योतिबा फूले ने ऐसी ही कुंआरी एवं विधवा गर्भवती स्त्रियों के लिए स्थापित किये गये 'प्रसूति गृह' का प्रचार सड़क पर बोर्ड लगाकर किया। प्रसूतिगृह का नाम था

‘बालहत्या प्रतिबंधक गृह’। ज्योतिबा फूले ने आत्महत्या के लिए तत्पर एक विधवा गर्भवती महिला को समझा-बुझाकर अपने घर में आश्रय दिया। उन्होंने एवं उनकी पत्नी सावित्री बाई फूले ने उस स्त्री के पुत्र को गोद ले लिया। विगत की इन घटनाओं एवं स्थितियों ने प्रेमचंद को अवश्य गहरे प्रभावित किया होगा और उपर्युक्त प्रसंगों की निर्मिति में अवचेतन में उपस्थित इस तरह की बातों का प्रभाव रहा होगा। सन् 1936 में प्रेमचंद ने प्रथम अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन में सभापति की हैसियत से ऐलान किया- “जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है, चाहे वह व्यक्ति हो या समूह उसकी हिमायत और वकालत करना साहित्यकार का फर्ज है।”

धनिया महज सिद्धांतों की उपज न होकर खांटी माटी की ऊपज है। कुंवर नारायण की पंक्तियां हैं, ‘.....भाषा की पारिस्थितिकी में / यदि आग लगी हो तो पहले वहां लगेगी/ जहां टूट हो चुकी होगी/ अपनी जमीन से रस खींच सकने वाली शक्तियां।’ गोदान की भाषा में मिट्टी की महक है। झुनिया के लिए धनिया का यह प्रारंभिक कथन ध्यातव्य है, “वह बहत्तर घाट का पानी पिये हुए है। उसके आने के बाद दोनों लड़कियों को किसके गले बांधोगे?’ होरी कहता है कि ‘मर्द साठे पर पाठे होते हैं।’ धनिया का उत्तर ध्यातव्य है -‘दूध-घी अंजन लगाने तक को तो मिलता नहीं, पाठे होंगे!’ धनिया के मुंह से निकले अवध के जनपद में प्रचलित मुहावरे कहावतें, सीधे पाठकों के दिल तक पहुँचते हैं।



प्रेमचंद के कथा-साहित्य में सांप्रदायिक संघर्ष का स्वरूप

– सुमन कुमार

प्रेमचंद भारतीय स्वतंत्रता एवं सांप्रदायिक एकता के महान समर्थक थे। उनका विश्वास पूर्ण स्वतंत्रता और विदेशी अत्याचार से मुक्ति में था। उन्होंने चाहे जिस भी कथा साहित्य का मूल आधार बनाया हो, उनका उद्देश्य भारतीय जीवन की स्वतंत्रता, एकता, उसका आर्थिक विकास एवं संपन्नता था। प्रेमचंद मानते थे कि हमें स्वतंत्र होने के लिए मात्र अँगरेजों से युद्ध करना नहीं है वरन् अपने आंतरिक व्यवधानों, सामाजिक बंधनों से भी संघर्ष करना है। वे स्वतंत्रता को व्यक्ति विशेष की स्वतंत्रता और आर्थिक सफलता नहीं मानते थे। वे जन-जन की आर्थिक स्वतंत्रता के पक्षपाती थे, जिनके आधार पर गाँववासी वृहत् भारतीय जीवन अपनी विपन्नता से मुक्त हो, वे युग-प्रवर्तक एवं भविष्यद्रष्टा साहित्यकार थे। युगीन जीवन की व्यवस्था में वे क्रांतिकारी परिवर्तन के आकांक्षी थे।

प्रेमचंद का युग सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं आर्थिक संक्रांति का युग था। विदेशी शासन से मुक्त होने की कामना, जो सन् 1857 की जनक्रांति की ज्वाला में प्रस्फुटित हुई थी, नये रूपों में विकसित होती हुई प्रेमचंद के युग तक आते-आते पल्लवित, पुष्पित हुई। विकास की यह प्रक्रिया और प्रतिक्रिया कहीं नारी जागरण में, शिक्षा प्रचार में, तो कहीं मानवीय एकता की आकांक्षा में प्रकट हुई। समाज इन सभी आघातों-व्याघातों एवं संघर्षों के साथ अपने लक्ष्य की ओर तीव्र गति से बढ़ता गया। युगीन जीवन एवं समाज का उद्देश्य स्वतंत्रता आंदोलन को प्रगतिशील करना एवं मानवीय विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना था। इस आंदोलन की विभिन्न प्रतिक्रिया विभिन्न क्षेत्रों में हो रही थी। बँध हुआ समाज हर ओर से स्वतंत्र होने के लिए आकुल-व्याकुल था। बँधे हुए वातावरण में जो घुटन थी, उसका अनुभव समाज बड़ी ही तीव्रता से करने लगा था और उससे बाहर निकलने के लिए उत्साह, उमंग एवं शक्ति से कार्य कर रहा था। समाज की शिथिलता, उसकी जड़ता, उसकी अकर्मण्यता समाप्त हो रही थी। प्रत्येक भारतवासी स्वतंत्रता का सपना देखने लगा था और उसे पाने के लिए कटिबद्ध होने लगा था। लेकिन जीवन की यह नवीन आकांक्षा अभी तक कथा साहित्य में अपने महत् उद्देश्य के साथ वर्णित नहीं हो पाई थी।

कथा साहित्य में स्वतंत्रता की इस नवीन भावना को उद्घेलित करने का श्रेय प्रेमचंद को है। उन्होंने नवीन कथा शिल्प एवं साधारण जीवन से कथानक लेकर अपने पूर्व के कथा साहित्य एवं आचार्यों की पूर्व मान्यताओं का विरोध किया। वे साहित्य को जनोपयोगी एवं युग जीवन से संपृक्त मानते थे, मात्र मनोरंजन का आधार नहीं। कथा साहित्य के माध्यम से वे एक ऐसी शक्ति का आह्वान करना चाहते

थे, जिससे देश का प्रत्येक युवक-युवती प्रभावित हो और युग जीवन को उससे प्रेरणा मिले, जो नवजीवन का संदेश लेकर चले और जिसमें भविष्य जीवन के लिए एक सुपथ का निर्देश हो। प्रेमचंद ने लिखा है-“साहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सच्चाई प्रकट की गई हो।” साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है। वस्तुतः लेखक साहित्य को जीवन की प्रगति का साधन मानता है। सच्चा साहित्यकार युग-जीवन के संघर्षों से प्रभावित होता है। वह युग की व्यथा का, उसके दर्द का अनुभव करता है और उसे साहित्य में स्पष्ट करता है।

प्रेमचंद का जीवन अन्याय के प्रति विद्रोही था। जीवन के प्रारंभ से लेकर मृत्यु की अंतिम घड़ी तक वे इसी अन्याय की विडंबना से युद्ध करते रहे। अपने साहित्य में प्रेमचंद का ध्येय इन्हीं सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांप्रदायिक अन्यायों के प्रति संघर्ष करना था। वे अपनी कहानियों और उपन्यासों में जीवन के इन्हीं अन्यायों की कहानी कहते हैं। देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक दुर्दशा एवं अत्याचार को देखकर प्रेमचंद का साहित्यिक हृदय उस अवस्था से बाहर स्वच्छंद वातावरण में आने के लिए आकुल था।

उनका युग स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहा था। अतः स्वातंत्र्य-आंदोलन के प्रति साहित्यकार का सजग और जागरूक होना अपेक्षित था। इसीलिए प्रेमचंद की प्रारंभिक कहानियों का विषय देश-प्रेम तथा स्वातंत्र्य-आंदोलन था।

“सोजेवतन” इनकी पाँच कहानियों का एक संग्रह निकला था, जिसमें प्रेमचंद देश-प्रेम की एवं देश की स्वतंत्रता की सजग प्रेरणा दे रहे थे और यह स्पष्ट कर रहे थे कि संसार की सबसे अमूल्य वस्तु देश रक्षा के लिए गिरी हुई रक्त की बूँदें हैं। अतः देश की रक्षा करना, या उसे स्वतंत्र करना, देशवासियों का सर्वोपरि कर्तव्य है।

प्रेमचंद ने क्रांति की भावना को अपने साहित्य का विषय बनाया। उन्होंने सबसे बड़ा कार्य यह किया कि साहित्य को व्यक्ति विशेष से हटाकर समष्टि से जोड़ा। उनका साहित्य बन गया। उनके पात्र साधारण गाँव के साधारण व्यक्ति थे, जो अपने आवेष्टन से संघर्ष कर रहे थे, अपनी परिस्थिति एवं अपने प्राचीन अंधविश्वासों, रूढ़ियों, मान्यताओं, विचारों से संघर्ष कर रहे थे। यह संघर्ष उनके जीवन का संघर्ष था; विवशता के बंधन से वे मुक्त होना चाहते थे और एक स्वर्णिम भविष्य का सपना देखते थे। वे सामाजिक अन्याय, जमींदारों तथा उनके कारिंदों के अत्याचार से आतंकित थे। वे इन अत्याचारों और यातनाओं को अपनी विवश परिस्थिति और अपनी गरीबी को भाग्यफल, कर्म का विधान मानते थे और उससे संघर्ष करने की हिम्मत टूट रही थी। वे मानते थे कि कर्मफल विधाता का विधान होता है, उससे स्वतंत्र होना आदमी के वश में नहीं है।

अपने संपूर्ण कथा-साहित्य में प्रेमचंद का मुख्य उद्देश्य भारत की पूर्ण स्वतंत्रता, विदेशी अत्याचार से मुक्ति एवं सांप्रदायिक एकता थी। अपने उपन्यासों “वरदान”, “सेवासदन”, “कायाकल्प”, “प्रेमाश्रम”, “रंगभूमि”, “कर्मभूमि”, “निर्मल”, “गबन” एवं “गोदान”—में लेखक ने युग-जीवन की आर्थिक अव्यवस्था एवं उसकी दयनीय स्थिति पर प्रकाश डाला है। साथ ही, वह भारत के लिए ऐसे युवकों की कामना करता है जो देश की प्रगति, स्वतंत्रता एवं उसके आर्थिक विकास को आगे बढ़ा सकें। “वरदान” उपन्यास की मूलकथा ‘सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के कारण दो प्रणयी का बिछुड़ जाना है। नायक अपने प्रणय-पात्र से बिछुड़ कर देश सेवा में रत हो जाता है। लेकिन प्रारंभ से अंत तक लेखक का ध्येय देश की स्वतंत्रता, देश की सेवा की ओर है, क्योंकि कहानी के प्रारंभ में

सुदामा-एक भारतीय माँ-अष्टभुजा देवी की अराधना करती है और उससे एक सपूत बेटे की माँग करती है, जो देश-सेवा में संलग्न रहे। यह युग 1910-12 का है। समाज के समक्ष अनेकानेक समस्याएँ एवं उलझनें थीं। राष्ट्र की स्वतंत्रता का मार्ग सरल एवं सहज नहीं था। उसके रास्ते में अनेकानेक विघ्न-बाधाएँ थीं। देशप्रेम का मुख्य उद्देश्य समाज सेवा था। समाज सेवा के माध्यम से ही भारतीय जनक्रांति का संघर्ष शुरू हुआ। शिक्षा, एकता एवं आत्मविश्वास का अभाव था। इस संबंध में सुधार के बिना हम स्वतंत्रता तक नहीं पहुँच सकते थे। इसीलिए सन् 57 की जनक्रांति एवं 1905 का विद्रोह दबा दिया जा सका। जनक्रांति तथा स्वतंत्रता की भावना तब मात्र कुछ पढ़े-लिखे लोगों में थी। वर्षों से गुलाम रहते-रहते भारतीय जनता अपनी प्राचीन संस्कृति को भूल कर रूढ़ियों, कुरीतियों एवं अंधविश्वासों में इस प्रकार जकड़ गई थी कि उससे निकलना सहज नहीं था। ऐसे समाज एवं युग को प्रेमचंद स्वतंत्रता एवं सामाजिक एकता का संदेश देकर, उसे अंधविश्वासों से निकालना चाहते थे जिनसे वे बुरी तरह ग्रस्त थे।

“प्रेमाश्रम” उपन्यास में लेखक ने स्पष्ट करना चाहा है कि भारतीय स्वतंत्रता के संघर्ष एवं उसकी जागृति को गाँवों तक पहुँचाना अनिवार्यतः अपेक्षित है। देश के कुछ व्यक्तियों की शिक्षा, सजगता एवं एकता से देश की उन्नति नहीं हो सकती। भारतीय जीवन का उत्स या जड़ गाँव है। भारतीय जीवन रूपी वृक्ष को हरा-भरा करना है तो हमें उस उत्स या जड़ को सींचना होगा, वहीं जाना होगा, क्रांति, सुधार और सामाजिक सांप्रदायिकता एकता वहीं से शुरू करनी होगी। वर्षों पहले से प्रेमचंद इस मूलभूत सत्य को समझ रहे थे। वे अनुभव करते थे कि भारतीय स्वतंत्रता और सांप्रदायिक एकता के नेताओं को गाँवों के जीवन में जाना चाहिए। इसीलिए उन्होंने ग्रामीण जीवन की जागृति को अपने साहित्य का आधार बनाया है। “प्रेमाश्रम” प्रथम महायुद्ध के बाद का उपन्यास है। संपूर्ण भारतीय जनता अन्यायी महाजनों, स्वार्थी जमींदारों, लालची राज्य कर्मचारियों एवं निर्दय-निर्मम कारिंदों एवं सिपाहियों के चक्रव्यूह से निकलने का सपना देखने लगी थी। 1917 में चंपारण (बिहार) के किसानों का तथा 1918 में गुजरात के खेड़ा नामक स्थान में किसानों का विद्रोह, लगान को लेकर हुआ था। जबकि एक गंगा किनारे और दूसरे समुद्र किनारे बसा है। प्रेमचंद अनुभव करते थे कि खेड़ा और चंपारण की तरह संपूर्ण भारतीय गाँव की अपनी-अपनी समस्याएँ हैं; उन समस्याओं के समाधान के बिना देश की प्रगति संभव नहीं है। प्रेमचंद स्वीकार करते हैं कि भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन एवं संघर्ष में किसानों-मजदूरों का साथ अपेक्षित था; जब तक वह नहीं होगा देश की स्वतंत्रता अपनी पूर्णता में हमारे समक्ष नहीं आएगी। “गबन” उपन्यास में लेखक इसी तथ्य की पुष्टि के लिए कहता है कि बड़े-बड़े देश के नेता अपने स्वार्थ और आर्थिक चमक-दमक में इस प्रकार फंसे हुए हैं कि वे देश का वास्तविक कल्याण कर ही नहीं सकते। स्वतंत्रता प्राप्ति के 68 वर्ष बाद आज अनुभव करते हैं कि प्रेमचंद ने युगीन नेताओं को किस सूक्ष्मता से देखा था। प्रेमचंद कहते हैं—“अभी तुम्हारा राज नहीं है, तुम भोग-विलास पर मरते हो; जब तुम्हारा राज हो जाएगा तब तो तुम गरीबों को पीस कर पी जाओगे।”

“प्रेमाश्रम” उपन्यास का मूल विषय लखनपुर गाँव है जो पुलिस, न्याय और कानून के शिकंजे में इस प्रकार फंसा हुआ है कि निकलना चाहकर भी नहीं निकल पाता है। वह बार-बार गरीबी, बीमारी और अपने अंधविश्वासों के साथ-साथ जमींदारों, कारिंदों के पाशविक अत्याचार, अन्याय में फंसे जाता है। उसके मन में मनुष्य की भांति जीने की इच्छा तीव्रतर होती है, वह स्वतंत्रता और समानता का स्वर्णिम सुख-स्वप्न भी देखता है। अन्याय और अत्याचार की जिस सीमा तक प्रेमचंद ने इस उपन्यास में निर्मम

नग्न चित्र उपस्थित किया है वह उस युग का सत्य था। भारतीय जीवन में किस प्रकार अत्याचार, अन्याय, हिंसा और दमन चक्र चल रहा था, “प्रेमाश्रम” में उसका सजीव चित्रण है। डॉ. राम विलास शर्मा ने इसे किसान जीवन का महाकाव्य माना है। इस उपन्यास में लेखक ने सांप्रदायिक एकता को महत्त्व दिया है। साथ ही स्पष्ट किया है कि हिंदू-मुस्लिम एकता युग की आवाज है, हम उसकी उपेक्षा कर आगे नहीं बढ़ सकते।

“रंगभूमि” उपन्यास अन्याय के प्रति न्याय के लिए संघर्ष पर आधारित है। यह सन् 20 और 30 के बीच का उपन्यास है। सन् 20-21 का असहयोग आंदोलन समाप्त हो गया था और गाँधीजी का वह आत्मविश्वास –कि वे असहयोग के आधार पर भारत को एक वर्ष में स्वराज दिला देंगे–पूरा नहीं हो सका। संपूर्ण भारतीय जीवन इस असफलता से निराश हो रहा था। लेकिन गाँधीजी उसे आशान्वित कर रहे थे। “रंगभूमि” का आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन नहीं था, लेकिन सूरदास का आदर्श एवं दर्शन गाँधीजी के आदर्श एवं दर्शन थे। सूरदास अनुभव करता है कि वह गरीब, शक्तिहीन, दुर्बल एवं अंधा है, लेकिन उसमें आत्मबल है, वह अपने सिद्धांतों की रक्षा के लिए अन्याय से संघर्ष करता है और अंत में शहीद हो जाता है। सूरदास का यह संघर्ष भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन एवं राष्ट्रीय संघर्ष का प्रतीक जान पड़ता है। सूरदास अन्याय को स्वीकार करना अपनी कायरता मानता है। “अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी।” उपन्यास में धर्म या संप्रदायगत संघर्ष कहीं नहीं है। ईसाई युवती सोफिया हिंदू युवक विनय से प्रेम करती है और धर्म या संप्रदाय से बढ़कर मानवता के प्रेम को महत्त्व देती है। सभी धर्मों में वह एक ही सत्य को स्वीकार करती है—प्रेम। सोफिया संप्रदाय और धर्म को मनुष्य का बाह्य आवरण मानती है। वह प्रेम और कर्म के महत्त्व को स्वीकार करती है और कहती है कि समाज ने संप्रदाय एवं धर्म के संकीर्ण विचार से मनुष्यता के प्रेम को विकसित होने नहीं दिया। प्रेमचंद स्वीकार करते हैं कि यह सांप्रदायिक संकीर्णता समाज के अधिकांश व्यक्तियों में है। हिन्दू धर्म जैसे उदार धर्म में भी आज संकुचित भावनाएं आ गई हैं। अज्ञानी पंडितों एवं पाखंडियों के चक्कर में पड़कर देश का धार्मिक जीवन अनुदार और संकुचित हो गया है। सांप्रदायिक संकुचित भावना के कारण दो प्रेमी एक नहीं हो सकते, क्योंकि एक राम के संप्रदाय हैं, दूसरे ईसा मसीह के। प्रेमचंद मानते हैं कि “धर्म का मुख्य स्तंभ भय है।” इस भय और अनिष्ट की शंका को दूर कर दिया जाय तो धर्म अपनी उच्चता में हमारे समक्ष आएगा और वह धर्म मानवता का धर्म होगा।

प्रेमचंद ने “रंगभूमि” में उस धर्म के प्रति निष्ठा और विश्वास व्यक्त किया है जहाँ मानव-मानव में समानता हो, जहाँ मनुष्य-मनुष्य से प्रेम करता हो। वे मानते हैं कि जहाँ संप्रदाय और धर्म के नाम पर दो प्रेमियों का मिलन न हो सके, जहाँ धर्म के नाम पर दंगा, मारपीट तथा खून किया जाता है, वह धर्म नहीं, धर्म के नाम पर कलंक है।

प्रेमचंद ने एक ओर जहाँ अपने साहित्य में जन-जागरण या स्वतंत्र्य-आंदोलन को महत्त्व दिया है, वहाँ सांप्रदायिक जीवन, उसकी समस्या और संघर्ष पर भी विचार किया है। उनके साहित्य का महत्त्वपूर्ण विषय सांप्रदायिक एकता था। उन्होंने अपने युग-जीवन की राजनीति का अध्ययन गंभीरता से किया था। वे इस बात को समझ रहे थे कि सदियों के साथ रहनेवाले हिंदू-मुस्लिम में एक-दूसरे के प्रति वैमनस्य के भाव जगाए जा रहे थे; उन्हें बार-बार किसी-न-किसी बहाने गलत विचार दिए जा रहे थे; उनकी धार्मिक मान्यताओं की उपेक्षा कराई जा रही थी। अतः यह समस्या धार्मिक नहीं थी, धार्मिक रंग में रंगी अवश्य जा रही थी। वस्तुतः धर्म के आवरण में यह एक गूढ़ राजनीतिक चाल थी, जिसे

हिन्दू-मुस्लिम जनता नहीं समझ पा रही थी। यह सांप्रदायिक संघर्ष या वैमनस्य रूपये-पैसे एवं अन्य प्रलोभन देकर बढ़ाये जा रहे थे।

“कायाकल्प” उपन्यास में लेखक ने धर्म और संप्रदाय के नाम पर जो हत्या और बलात्कार के चित्र उपस्थित किये हैं, वे युगीन सत्य थे। यह उपन्यास 1926 में प्रकाशित हुआ। 1924 में 9-10 सितंबर को कोहाट में भीषण सांप्रदायिक दंगा हुआ। एक ही मुहल्ले में वर्षों साथ रहनेवाले दो मित्र, दो पड़ोसी एक-दूसरे के दुश्मन बन बैठे। उनका वर्षों का स्नेह संबंध, अभिन्नता, सद्भावना, सहानुभूति, सम्मान और प्रेम अचानक समाप्त हो गया। लेकिन ऐसा क्यों हुआ, कोई इसे नहीं सोच पाता था। “कायाकल्प” का लेखक इस समस्या की गहराई में जाकर गंभीरता से सोचता है और उसे लगता है कि युग-जीवन की मर्जी के खिलाफ कोई अदृश्य ताकत उसे लड़ाती रहती थी। यह अदृश्य शक्तियाँ क्या है? अँगरेजी कूटनीति, सांप्रदायिक संघर्ष एवं दंगे के कारणों और उसके उद्देश्य को लेखक ने जिस सच्चाई से हमारे सामने रखा, वह अनुपम है। एक ओर हिंदू समाज “शुद्धि आंदोलन” का महत्त्व दे रहा था, दूसरी ओर मुस्लिम समाज गो हत्या और कुर्बानी के बहाने प्रतिशोध की भावना प्रदर्शित कर रहा था। जरा-जरा-सी बातों पर दोनों दलों के सांप्रदायिक व्यक्ति इकट्ठे हो जाते थे और उनमें मारपीट हो जाना साधारण बात थी। दोनों ही दल मजहब के नशे में चूर थे। पूरे देश की यही स्थिति थी।

प्रेमचंद एक महान साहित्यकार होने के साथ-साथ निष्पक्ष चिंतक, उदार, समालोचक एवं एकता के समर्थक थे। वे बार-बार साहित्य के माध्यम से सांप्रदायिक वैमनस्य और द्वेष की हकीकत को हिंदुओं और मुस्लिमों के समक्ष रखना चाहते थे और यह स्पष्ट करना चाहते थे कि उनका आपसी संघर्ष किसी विशेष लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नहीं है। लेकिन युगीन संघर्ष की गंभीरता के कारण देश के महान विचारक, राष्ट्रीय नेताओं एवं उदार साहित्यकारों के विचार परिवर्तित हो रहे थे, इसी प्रकार की परिस्थिति ने दो अभिन्न मित्र ख्वाजा अहमद और यशोदानंदन को एक-दूसरे का विरोधी बना दिया था। उनके उदार विचार क्रमशः संकुचित सांप्रदायिक एवं द्वेषपूर्ण होते गये। दोनों अपने-अपने संप्रदाय के नेता बन बैठे। चक्रधर की वीरता, गंभीरता, तत्परता और विलक्षण सांप्रदायिक उदारता ने विषाक्त वातावरण एवं होनेवाले भीषण दंगे को शांत कर दिया। चक्रधर ने स्पष्ट किया कि “खुदा बेकसों के खून से खुश नहीं होते। अगर जवांमर्दी दिखानी हो तो किसी शेर का शिकर करो, किसी चीते को मारो।” चक्रधर की बहादुरी, गाय के साथ-साथ जान देने की उनकी आकांक्षा ने, मुसलमानों के मनोभावों को परिवर्तित कर दिया। वह एक ही खुदा का कायम है “वही सारे जहान का मालिक है।” चक्रधर उच्च विचारों को अपेक्षित मानते हैं और आशा करते हैं कि हिन्दू समाज अल्पसंख्यक मुसलमानों को अछूत न समझें, उनसे इंसान की तरह मिले। चक्रधर और महमूद साहब दो इंसान की तरह गले मिले और संघर्षमय स्थिति शांत हो गई।

प्रेमचंद स्पष्ट करना चाहते हैं कि सांप्रदायिकता की आँधी में जब ‘सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ता हमारा’ कहनेवाले इकबाल साहब के विचार बदल गए, हिन्दू-मुस्लिम को भारतमाता की दो आँखों मानने वाले राष्ट्रीय नेता सर सैयद अहमद साहब के विचार परिवर्तित हो गये, तो साधारण व्यक्तियों के विचार परिवर्तन पर आश्चर्य करना व्यर्थ है। ख्वाजा साहब और यशोदानंदन साधारण आदमी थे; उनके विचार भी सांप्रदायिकता के तूफान में बदल गए तो आश्चर्य क्या?

सांप्रदायिक संघर्ष को उपस्थित कर उसके वीभत्स रूप को हमारे सामने रखकर लेखक उसके कठोर परिणाम से अवगत कराकर हमें उस उलझन से दूर रखना चाहता है। इतने संघर्ष, दंगा, हत्या, फसाद

के बाद भी अगर युगीन जीवन को अपनी बेबकूफी, अपनी अज्ञानता का आभास हो जाता तो वह भी चक्रधर और ख्वाजा महमूद साहब की भाँति बीती बातों को भूलकर एक होने की चेष्टा करता, और तब संभवतः भारत का इतिहास कुछ और होता।

प्रेमचंद चाहते हैं कि भारतीय धरती पर रहनेवाले दो भाईयों का विचार बदल जाएँ और वे अपनी गलती समझ कर प्रेम से रहने लगें। प्रेमचंद ऐसे ही भारत का सपना देखते रहे जहाँ महमूद जैसे उदार विचार के व्यक्ति हों, जहाँ चक्रधर जैसे उदार धर्म में विश्वास रखनेवाला युवक हो, जहाँ यशोदानंदन की पत्नी वागेश्वरी की भाँति यथार्थ को समझनेवाली महिला हो, जो यह स्वीकार करे कि हिंदू मुस्लिम दोनों को इसी धरती पर साथ-साथ रहना है, फिर व्यर्थ में वे क्यों एक दूसरे की हत्या करने को व्याकुल हैं, अगर व्यक्ति इस सहज सत्य को समझ लें, तो अवश्य एक-न-एक दिन दोनों संप्रदाय में एकता, प्रेम और भाईचारे का बंधन होगा।

प्रेमचंद स्वीकार करते हैं कि जीवन की गति को अवरुद्ध करनेवाली अशांति, दंगों को हम यदि उदारता के प्रेम में परिवर्तित कर पाते तो देश का विकास सहज हो जाता। उन्होंने अपने अन्य उपन्यासों और कहानियों में हिंदू-मुस्लिम पात्रों को साथ-साथ प्रेम से रहते दिखाया है। कर्मभूमि की सकीना एवं अमरकांत तथा सोफिया और विनय के पवित्र प्रेम को मान्यता देनेवाले उदार साहित्यकार प्रेमचंद युग-जीवन से सांप्रदायिक संघर्ष हटाकर, जीवन में आर्थिक विकास की प्रेरणा एवं एकता आदर्श देते हैं।

अपने कथा साहित्य में लेखक का उद्देश्य एक ओर जहाँ स्वातंत्र्य आंदोलन को उद्वेलित करना था, जिसमें हिंदू-मुस्लिम साथ-साथ भाग ले रहे थे और देश की स्वतंत्रता के लिए जान हथेली पर लेकर चल रहे थे, वहीं सांप्रदायिक संघर्ष की विभीषिका को उपस्थित कर लेखक ने हमारे मन में उसके प्रति घृणा के भाव जागरित कर हमें एकता और प्रेम की प्रेरणा ही है। लेखक ने स्वीकार किया है कि सांप्रदायिक संघर्ष जीवन विकास के लिए अभिशाप है, हमें इस संघर्ष से बचना चाहिए।

सांप्रदायिक समस्या आधुनिक युग की समस्या है। सन् 1857 के विद्रोह में हिंदू-मुस्लिम दोनों एक हो गये थे उनका एकता की असीम शक्ति को देखकर अँगरेज सरकार घबरा गयी थी। अतः हमारे मन में गलत विचार, भाव और गलत ऐतिहासिक विवेचन को इसे प्रकार स्थापित किया गया कि हम उससे अत्यधिक प्रभावित हो गए। प्रेमचंद सांप्रदायिकता के कारण हिंदू-मुस्लिम मन में बैठाए गए गलत विचारों को अपने साहित्य के माध्यम से हटाना चाहते थे। उनके अनेकानेक हिंदू-मुस्लिम मात्र एकता और प्रेम के समर्थक हैं तथा वे उस प्रेम संबंध को देश की प्रगति के लिए अनिवार्य मानते हैं।

अपनी कहानियों में प्रेमचंद जहाँ स्वातंत्र्य-आंदोलन एवं विदेशी वस्ता से मुक्त होने का संदेश दिया वहीं सांप्रदायिक संघर्ष उपस्थित कर उस एकता को अनिवार्य माना है जिससे मानवता का परिष्कार होता है। उन्होंने “जुलूस”, “सुहाग की साड़ी”, “पत्नी से पति”, “इस्तीफा”, “समर यात्रा”, “होली का उपहार”, “जेल”, “तावान”, “आहुति”, “शांति”, “शूद्र”, “चकमा”, “शराब की दुकान”, “दुःसाहस”, “मैकू”, “सत्याग्रह”, “लालपीता” आदि कहानियों में तत्कालीन अँगरेजों की बर्बरता एवं स्वतंत्रता के संघर्ष का सजीव चित्र उपस्थित किया है। प्रेमचंद साहित्य के माध्यम से युग-जीवन में आगे बढ़ाना चाहते थे। वे नव जागरण थे। सांप्रदायिक एकता को साथ-साथ बढ़ाना चाहते थे। वे हमेशा इस तथ्य को महत्व देते थे कि हिन्दुस्तान में रहनेवाला हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख और ईसाई सभी हिन्दुस्तानी रहें। वे स्वीकार करते थे कि “मजहब यार धर्म को हमलोगों ने किस प्रकार मजाक बना रखा है।”

अपने संपूर्ण कथा साहित्य में प्रेमचंद ने धर्म को उसकी उदारता में स्वीकार किया है और हमेशा

मानवता के धर्म को महत्व दिया है। वे सदा एक ही ईश्वर के नाम-भेद पर भाई-भाई के संघर्ष की आलोचना करते हैं। धर्म और ईश्वर के प्रति उदार एवं स्वस्थ विचार देकर वे आनेवाले युग में शांति, सद्भावना और प्रेम की आकांक्षा करते हैं।

निष्कर्षतः हम पाते हैं कि प्रेमचंद का संपूर्ण साहित्य, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उत्थान का साहित्य था। वे युग प्रवर्तक एवं भविष्यद्रष्टा कलाकार थे, युगीन जीवन व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन के आकांक्षी थे। वे जिस संपूर्ण क्रांति और सांप्रदायिक एकता का सपना देख रहे थे वह देश में अवश्य आएगी। क्योंकि आनेवाली क्रांति की आवाज को वे पहचानते थे। जर्मींदारी-प्रथा के उन्मूलन का सपना उन्होंने देखा था; नारी शिक्षा, नारी जागरण, विधवा विवाह आज देश में उनके क्रांतिकारी साहित्य के कारण साधारण बात है। आर्थिक स्वतंत्रता, सांप्रदायिक एकता, विश्व बंधुत्व एवं मानवता की भावना की जो प्रेरणा, प्रेमचंद जनजीवन को दे गये हैं; भविष्य भारत उसी की ओर प्रगतिशील है। उनकी जैसी लेखनी थी वैसा ही जीवन। इसीलिए प्रेमचंद जीवन के प्रेरणास्रोत हैं।



दलित साहित्य में स्त्री विमर्श

– सजल प्रसाद

सांप्रतिक साहित्यिक चर्चाएँ दलित साहित्य और स्त्री विमर्श पर केन्द्रित हो गई हैं। मुख्यधारा के साहित्य से दलित साहित्य का पृथक अस्तित्व गढ़ा जा रहा है। कहा जा रहा है कि दलितों के द्वारा दलितों के पक्ष में लिखा जाने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है। सदियों से शोषण और अन्याय के शिकार दलित अपनी व्यथा-कथा अभिव्यक्त करने में स्वयं समर्थ हैं। इसी तरह मुख्यधारा के साहित्य सहित दलित साहित्य में पुरुषों द्वारा नारी-समस्या पर उठाए गए मुद्दों को एकपक्षीय करार देकर महिला साहित्यकारों ने स्वयं कलम उठा ली है और पितृसत्ता को चुनौती दे रही हैं। नारी और दलित विमर्श के हिन्दी संस्करण के जनक हंस के संपादक राजेन्द्र यादव ने रजत रानी 'मीनू' के शोध पुस्तक 'नवें दशक की हिन्दी दलित कविता' की भूमिका लिखते हुए स्पष्ट घोषणा की है कि "साहित्य का सारा भविष्य अब स्त्री और दलित चेतना से निर्धारित होने जा रहा है।"¹

दलित साहित्य और स्त्री-विमर्श को सकारात्मक भाव से ग्रहण करने का वक्त आ चुका है। यह कटु सत्य है कि भारतवर्ष में दलित समाज को योजनाबद्ध तरीके से बहिष्कृत समूह करार देकर उसे उसके नैसर्गिक और मौलिक अधिकारों से वंचित रखा गया था। डॉ० चमनलाल ने 'दलित साहित्य' की परिभाषा कुछ इस तरह दी है – "दलित साहित्य वह साहित्य है, जो दलितों के जीवन, उनके सुख-दुख, उनकी सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों, उनकी संस्कृति, उनकी आस्थाओं-अनास्थाओं, उनके शोषण-उत्पीड़न तथा इस उत्पीड़न-शोषण का दलितों द्वारा प्रतिरोध की परिस्थितियों को व्यापकता तथा गहराई के साथ, कलात्मकता से प्रस्तुत करता है।"²

सदियों से दबा-कुचला दलित समाज अब जाग चुका है। दलित साहित्य के माध्यम से अपने भोगे हुए यथार्थ की कड़वाहट को तल्लखी के साथ वह प्रस्तुत कर रहा है। देरीदा के विनिर्मितिवाद (थ्योरी ऑफ डीकंस्ट्रक्शन) के तात्पर्य – पाठ या टेक्स्ट पढ़ने की वह पढ़त-पढ़ति जो टेक्स्ट के पूर्व निर्धारित व स्थापित अर्थ को विस्थापित करती है – को दलित साहित्य में एक नया आयाम मिला है। दलित साहित्य और दलित चेतना का अब यही अभीष्ट है – "दुकान हमारी भी है / और तुम्हारी भी / यह बात और है कि हमारी दुकान पर बिकता है जूता / और तुम्हारी दुकान पर रामनामी / हमारे लिये जूते का महत्व वही है / जो तुम्हारे लिये रामनामी का / आओ समानता का तार पकड़ें / एक तार का सूत्र गढ़ें।"³

दलित साहित्य ने नए-नए प्रश्न उठाए हैं। नारी विमर्श को भी इसने नया फलक दिया है। मुख्यधारा के साहित्य में इस्मत चुगताई, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान आदि लेखिकाओं के बोल्ड लेखन के बावजूद पुरुष विरोधी लेखन-धारा प्रवहमान नहीं हो सकी। अलबत्ता, इसका प्रभाव यह पड़ा

कि पुरुषों ने नारीवादी साहित्य आगे बढ़कर लिखे।

परन्तु, नारीवादी लेखन में नया मोड़ लेखिकाओं की आत्मकथाओं के माध्यम से आया। 1977 में आई अमृता प्रीतम की आत्मकथा 'रसीदी टिकट' सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की पहली स्त्री-आत्मकथा के रूप में पेश हुई। पर, इसके बाद लगभग तीन दशकों तक स्त्री-आत्मकथा की जमीन बंजर रही। सन् 2002 में 'कस्तूरी कुण्डल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' रचकर मैत्रेयी पुष्पा ने इस बंजरपन को खारिज किया। इसी तरह प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', रमणिका गुप्ता की 'हादसे', मन्नु भण्डारी की 'एक कहानी यह भी' ने स्त्री आत्मकथा लेखन को एक सकारात्मक ट्रेण्ड देने का यत्न किया।

इसी मानिंद हिन्दी साहित्य की पहली दलित आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' (प्रकाशन वर्ष - 1995) एवं पहली दलित स्त्री-आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' (प्रकाशन वर्ष - 1999) आयी, तो मुख्यधारा के साहित्य के साथ-साथ दलित साहित्य में भी जैसे तूफान आ गया। 'तिरस्कृत' व 'संतप्त' में सूरजपाल चौहान, 'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि, 'झोपड़ी से राजभवन' में माता प्रसाद आदि का आत्मोद्बोधन पाठकों के अंतस की परतों को खोलता है। इसी क्रम में सुशीला टाकभौर, रजनी तिलक, रजत रानी 'मीनू', सुमित्रा मेहरोल आदि कतिपय दलित लेखिकाओं की आत्मकथाएँ भी आ रही हैं।

पर, यहाँ अब चर्चा 'दोहरा अभिशाप' की, जिसमें दलित लेखिका कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा दलित साहित्य के अनंतर प्रश्नों की झड़ी लगाती है। आत्मकथा की भूमिका में वे बेबाकी से लिखती हैं - "पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज हो सकते हैं, परन्तु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिए कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूँ। मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं को आए होंगे, परन्तु समाज और परिवार के भय से वे अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने से डरती हैं और जीवन भर घुटन में जीती हैं। समाज की आँखें खोलने के लिए ऐसे अनुभव को सामने लाने की जरूरत है।"⁴

लेखिका ने अपनी इस आत्मकथा में न केवल दलित होने की पीड़ा को जीवंतता दी है, बल्कि महिला होने की वेदना का अहसास भी कराया है। आत्मकथा के प्रणयन से यह कटुसत्य उजागर होता है कि महिलाओं के मामले में सवर्ण पुरुष की सोच एवं दलित पुरुष की सोच समान रूप से सामंती हो जाती है। आत्मकथा की भूमिका को ही आगे बढ़ाती हुई वह कहती है - "मैं लेखिका नहीं हूँ, ना साहित्यिक लेकिन अस्पृश्य समाज में पैदा होने से जातीयता के नाम पर जो मानसिक यातनाएँ सहन करनी पड़ीं, इसका मेरे संवेदनशील मन पर असर पड़ा। मैंने अपने अनुभव खुले मन से लिखे हैं। पुरुष प्रधान समाज औरतों का खुलापन बर्दाश्त नहीं करता। पति तो इस ताक में रहता है कि पत्नी पर अपने पक्ष को उजागर करने के लिए चरित्रहीनता का ठप्पा लगा दे।"⁵

आत्मकथा में तीन पीढ़ियों के जीवन-संघर्ष को उकेरा गया है। पहली पीढ़ी में लेखिका की नानी (आजी) का जीवन संघर्ष है, दूसरी पीढ़ी में भागीरथी (लेखिका की माँ) का एवं तीसरी पीढ़ी की प्रतिनिधि स्वयं लेखिका यानी कौसल्या बैसंत्री है। तीनों पीढ़ियों का प्रतिनिधित्व कर रहीं ये स्त्रियाँ संघर्षरत जीवन जीती हैं। आजी बाल विधवा हैं, पर बाद में उनका दूसरा ब्याह होता है। विधवा-विवाह के सकारात्मक पहलू के बावजूद स्त्री-अधिकार हनन का नकारात्मक पहलू इस मायने में स्पष्ट हुआ है कि समाज में एक विधुर पुरुष को जहाँ कुँवारी लड़की से दूसरा ब्याह करने की इजाजत है, वहीं एक विधवा को किसी कुँवारे लड़के से वैवाहिक बंधन में बंधने का अधिकार नहीं दिया गया है। आजी अपनी सौतन और गुस्सैल पति के द्वारा प्रताड़ित होती रहती थी। स्वाभिमानी आजी अंततः अपनी तीन संतानों के साथ घर छोड़कर स्वतंत्र जीवनयापन को उद्धृत होती है। पर, इस बीच उसका पुत्र श्रवण और

बड़ी बेटी सरस्वती की मृत्यु बीमारी से हो जाती है और आजी का पूरा जीवन भागीरथी (लेखिका की माँ) पर केन्द्रित हो जाता है। भागीरथी ने लेखिका को शिक्षित करने में दृढ़ निश्चय का परिचय दिया। पर, लेखिका को अपनी पढ़ाई के दौरान न केवल सवर्ण लड़कों से, बल्कि सवर्ण लड़कियों व औरतों से मानसिक प्रताड़ना मिली। कौसल्या बैसंत्री लिखती हैं – ‘सवर्ण लड़के परेशान करते थे – ये हरिजन बाई जा रही है। दिमाग तो देखो, इसका बाप तो भिखमंगा है, साइकिल पर जाती है – कहकर वे भी साइकिल से गिराने की कोशिश करते थे। अपने को उच्च-वर्गीय समझने वाली औरतें भी मुझे साइकिल पर जाते देख बड़े कुत्सित ढंग से हँसती थीं। उन्हें ताज्जुब भी होता था कि हम अछूत और मजदूर के बच्चे इतना कैसे पढ़ पाते हैं?’¹⁶

इस आत्मबयानी से स्पष्ट है कि दलित स्त्रियों को सवर्ण महिलाओं से भी नानाविध छूतपरक व्यवहार झेलने पड़ते हैं। लेखिका की जिन्दगी नारकीय रही। पहले से ही शादी-शुदा और बाल-बच्चेदार देवेन्द्र कुमार से शादी वस्तुतः उसकी जिन्दगी नारकीय होने का सबब बन जाती है। विडम्बना यह है कि पति स्वतंत्रता सेनानी होने के बावजूद घर में एक पत्नी को आजादी नहीं दे सकता। उसका व्यवहार पुरुष सत्ता के कुत्सित पक्ष के रूप में सामने आया। देवेन्द्र कुमार को पत्नी सिर्फ खाना बनाने और उसकी शारीरिक भूख मिटाने के लिए चाहिए थी। लेखिका कहती है – “उसने मेरी इच्छा, भावना, खुशी की कभी कद्र नहीं की। बात-बात पर गाली, वह भी गंदी और हाथ उठाना। मारता भी वह बहुत क्रूर तरीके से।”¹⁷

वस्तुतः यही ‘दोहरा अभिशाप’ लेखिका को झेलना पड़ता है। इसी संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि एक कामकाजी नारी का उत्तरदायित्व किसी पुरुष की अपेक्षा काफी अधिक बढ़ जाता है – एक घर में कुशल गृहिणी का और दूसरा बाहर निपुण कर्मचारी/अधिकारी या मजदूरनी का। इस अनुपात में ऐसी नारी का दुःख और संघर्ष स्वाभाविक रूप से काफी बढ़ जाता है। परन्तु, स्त्री जब दलित वर्ग की हो, तो उसे दो मोर्चों पर समान रूप से लड़ना पड़ता है – एक पुरुष सत्ता से, तो दूसरा जातिवादी व्यवस्था से। स्त्रियों के मामले में सवर्ण और दलित पुरुषों की मानसिकता समान हो जाती है। “कौसल्या बैसंत्री का जीवन इस बात का प्रमाण है कि उनके व्यक्तित्व निर्माण में सर्वाधिक बाधाएँ उनकी बिरादरी के पुरुषों ने ही खड़ी कीं। उन्होंने बेबाक शब्दों में कह दिया कि बाबा साहेब के निकट सहयोगियों ने भी उसके साथ जबरन यौनाचार करना चाहा। उनकी बस्ती के लोगों ने ही उसका जीना मुश्किल कर दिया। इसलिए उसकी पहली मुठभेड़ सवर्ण पुरुष सत्ता से नहीं, दलित पुरुष सत्ता से है।”¹⁸

आर्थिक तंगी से जूझने वाले दलित समाज की नारियाँ स्वावलम्बी होती हैं और इलाहाबाद आदि शहरों की सड़कों पर पत्थर तोड़कर मजदूरी कमाती हैं। घर के पुरुषों के समान वह भी अपनी आर्थिक सहभागिता देती हैं। कहीं-कहीं निकम्मे दलित पुरुष अपनी पत्नी की कमाई पर रोटी तोड़ते हैं और कई बार ऐसे निठल्ले दलित पति दारू पीने के लिए बचे-खुचे पैसे भी हथियाने के लिए पत्नियों को पीटते हैं। कौसल्या बैसंत्री ने अपनी दादी के दर्द को कुछ यूँ उकेरा है – “दिन भर जी-तोड़ काम करने पर भी शाम को वह अपने पति से बिना कारण ही मार खाती। माँ भी दिन भर जी-तोड़ मेहनत करती, किन्तु समाज के लोगों द्वारा वह समुचित सम्मान नहीं पाती”। स्पष्ट है कि दोहरे अभिशाप से न केवल लेखिका बल्कि उसकी नानी, दादी और माँ भी अभिशाप हैं। ‘दोहरा अभिशाप’ की कई नारी पात्र जीवन की चक्की के दोहरे पाटों के बीच पिसने को मजबूर है। एक तरफ जहाँ उसे अपने परिवार और समाज से लड़ना पड़ता है, तो दूसरी ओर अपने मान-सम्मान व स्वाभिमान की रक्षा के लिए सवर्ण समाज से भी

मुकाबला करना पड़ता है। अपने स्कूली जीवनानुभव को रेखांकित करती हुई लेखिका कहती हैं, “मेरी कक्षा में हमारे समाज की एक लड़की पढ़ती थी। वह बहुत दूर से स्कूल आती थी। कभी-कभी वह कक्षा में सो जाती थी। शिक्षक उसको बहुत डाँटते थे। कक्षा की सभी लड़कियाँ उसका मजाक उड़ाती थीं। वह रोती थी। एक दिन उसने मुझे बताया कि वह सवेरे चार बजे उठकर बर्तन, झाड़ू, खाना बनाना वगैरह घर का सारा काम करके आती थी। उसकी दादी पागल-सी थी। उसके पिता दर्जी का काम करते थे। शाम को घर का काम करके वह कभी-कभी पिताजी को शर्ट ब्लाउजों में बटन लगाने में भी मदद करती थी। सोने में बहुत देर हो जाती थी। उसके बहन-भाई भी स्कूल में पढ़ने जाते थे। घर के काम का सारा बोझ उसी पर रहता था।”⁹ कहना नहीं होगा कि इस दलित छात्रा पर भी दोहरे अभिशाप की छाया है।

लेखिका ने एक दूसरी घटना का चित्रण करते हुए कहा है कि दिहाड़ी पर मजदूरी करने वाली एक सुन्दर दलित औरत पर मनचले मिस्त्री की बुरी नजर है और वह एक दिन उसके स्तन-स्थल पर गीले सीमेंट का गोला फेंक देता है, इस पर अन्य मजदूर हँसते हैं। इस दलित औरत के स्वाभिमान को ठेस लगती है और वह अपने पति से मिस्त्री की शिकायत करती है। किन्तु, दलित पति परमेश्वर मिस्त्री के खिलाफ थाने में शिकायत करने की बजाय अपनी सुन्दर व स्वाभिमानी पत्नी को कुलटा बताकर घर से निकाल देता है। बाद में, यह स्वाभिमानी दलित स्त्री आत्महत्या कर लेती है। लेकिन, इसके बाद भी पति ही नहीं, अपितु उस स्त्री के माँ-बाप की भी प्रतिक्रिया यही होती है कि – अच्छा हुआ कुलटा थी, मर गई। उस पर तुरा यह कि उसके दो बच्चों का पिता दूसरी शादी कर लेता है। यहाँ भी दोहरे अभिशाप से ग्रसित दलित महिला है।

पति देवेन्द्र कुमार द्वारा छोड़ दिए जाने के बाद लेखिका लिखती हैं, “बहुत अत्याचार होने पर मैंने कोर्ट में देवेन्द्र कुमार पर केस दायर किया। आज दस वर्षों से कोर्ट में केस अटका पड़ा है। मुझे हर माह 500 रुपये मेंटेनेंस में मिलते हैं। देवेन्द्र कुमार इसे देने में भी देर लगाता है, चार-चार महीने नहीं भेजता। अपने छोटे लड़के के पास रह रही हूँ।”¹⁰

दूसरी ओर, प्रख्यात दलित विचारक डॉ० धर्मवीर कौसल्या बैसंत्री के इस आत्मसंघर्ष को इस तरह देखते हैं – “यह दलित परंपरा की बात बिल्कुल नहीं है कि अपने अनचाहे पति से पाँच सौ रुपये महीने की भिखारिन बनी पड़ी है। वह ब्रिटिश भारत के कालिजों में पढ़ी है, उसके खाते-कमाते बच्चे हैं। दलित पत्नी ऐसे पैसों को फेंककर मारती है। यदि दस वर्ष से केस कोर्ट में अटका पड़ा है, तो कानून बदलो, संसद से कहो। गाँव या शहर की किस दलित पंचायत ने आज तक दस वर्ष तक वैवाहिक मामलों के फ़ैसले रोके रखे हैं? दलित नारी होने के बावजूद, पीछे माँ और नानी की महान परंपरा होने के बावजूद लेखिका द्विज नारी बनकर क्यों बैठ गई हैं? वास्तव में पति से भरण-पोषण माँग कर कौसल्या बैसंत्री ने दलित नारी के सम्मान और उसकी स्वतंत्रता की नाक कटाकर रख दी है।”¹¹

लेकिन, प्रखर दलित चिन्तक डॉ० हरि नारायण ठाकुर कहते हैं, “दलित महिलाओं के भी सपने होते हैं और ये सपने किसी सवर्ण महिला के सपनों से अलग नहीं होते। दलित विचारक माने या न माने – दलित आन्दोलन का एक उद्देश्य उन्हें समाज की मुख्यधारा में लाना भी रहा है। जब तक दलितों द्वारा कोई पुष्ट धारा नहीं बन जाती, सवर्ण समाज की धारा ही मुख्यधारा है। अर्थात् बेहतर जीवन शैली में आज वे ही बातें आती हैं, जिनकी कौसल्या बैसंत्री को अपेक्षा है। इसलिए एक दलित पत्नी भी पति से वे ही सारी अपेक्षाएँ रखती है, जो कोई सवर्ण पत्नी रखती। ऐसे में धर्मवीर का तर्क एकांगी कहा

जाएगा। कौसल्या ने एक आम भारतीय नारी का पक्ष रखा है, चाहे वह दलित हो या सवर्ण। थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि कौसल्या बैसंत्री को दलित महिलाओं की तरह स्वावलम्बी बनने का प्रयास करना चाहिए, तो इसमें दो बातें हो सकती हैं। पहली तो यह कि इस स्थिति तक आते-आते बहुत देर हो चुकी होगी। दूसरी यह कि कौसल्या बैसंत्री जिस सामाजिक स्तर पर जी रही थीं, वह दलितों से काफी ऊँचा समर्थ सवर्ण का जीवन स्तर था। यहाँ पति से अपेक्षा या अधिकारों की माँग उसी संभ्रांतता के तहत ही की जा रही है।”¹²

सारतः दलित साहित्य में दलित चेतना को जो उभार मिला है और उस माध्यम से उसने जो पृथक पहचान बनाई है, उससे साहित्यिक व सामाजिक चिंतन की अनेक नई दिशाएँ खुलती हैं। परन्तु, दलित लेखिका कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा ने दलित साहित्यकारों व विचारकों को भी आत्ममंथन करने के लिए प्रेरित किया है।

संदर्भ :

1. दलित चेतना और स्त्री विमर्श, संपादक विजय कुमार संदेश व अन्य, क्लासिकल पब्लिकेशन कम्पनी, प्रथम संस्करण 2009, भूमिका से।
2. प्रो० चमनलाल, दलित साहित्य : एक मूल्यांकन, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ० सं० - 15
3. दलित चेतना और स्त्री विमर्श, सम्पादक विजय कुमार संदेश व अन्य, क्लासिकल पब्लिकेशन कम्पनी, प्रथम संस्करण 2009, भूमिका, भाग, पृ० सं० - 62।
4. दोहरा अभिशाप, (भूमिका), लेखिका - कौसल्या बैसंत्री
5. दोहरा अभिशाप, (भूमिका), लेखिका - कौसल्या बैसंत्री
6. दोहरा अभिशाप, लेखिका - कौसल्या बैसंत्री
7. दोहरा अभिशाप, लेखिका - कौसल्या बैसंत्री
8. बजरंग बिहारी तिवारी का आलेख, हंस, जुलाई 2000
9. दोहरा अभिशाप, लेखिका - कौसल्या बैसंत्री, पृ० सं० - 102
10. दोहरा अभिशाप, लेखिका - कौसल्या बैसंत्री, पृ० सं० - 102
11. 'हंस', दलित विशेषांक, अगस्त 2004
12. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, लेखक-हरिनारायण ठाकुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ० - 497।



हिंदी भाषा : उत्थान और पतन

– अर्चना चंदेल

सर्वविदित है कि भाषा मानव अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन है और यह मनुष्य को अन्य प्राणियों से विशिष्ट बनाती है। भाषा द्वारा उत्पन्न भाव ही मानव संस्कृति के विभिन्न चरणों को सम्पन्न करते हैं। भाषा सभी प्राणियों के पास होती है लेकिन मनुष्य की भाषा उन सबसे अलग और अनूठी है।¹ स्मृति तथा बुद्धि हमारी भाषा के साथ निरंतर सक्रिय रहती है। भाषा संप्रेषण का माध्यम है जो सामाजिक, सांस्कृतिक तथा सांविधिक क्षेत्रों में प्रयुक्त होती है यदि किसी समाज में भाषा प्रभावी रूप से अपनी भूमिका नहीं निभाती तो वह समाज गूंगा, निष्क्रिय और मृत हो जाता है।²

सामाजिक आचार-विचार, रीति-रिवाज, पर्व-त्यौहारों एवं राष्ट्रीय उत्सवों में भाषा की भूमिका महत्वपूर्ण है। मनुष्य सामाजिक प्राणी बना है तो इसलिए कि उसके पास विचार-विनिमय के लिए भाषा सशक्त माध्यम के रूप में उपलब्ध है, जबकि अन्य प्राणियों के पास यह नहीं है।³ इस प्रकार भाषा संचार की मुक्त तथा उत्पादनकारी प्रणाली का निर्माण करती है। यदि भाषा न होती तो समस्त विश्व एक मौन शून्य होता। एक बार कन्फ्यूशियस से किसी ने पूछा कि सबसे पहले आप क्या ठीक करेंगे ? उनका उत्तर था - 'भाषा'। क्यों, भाषा ही क्यों ? पूछने पर उन्होंने कहा - यदि भाषा ठीक नहीं होगी तो हम अपने भाव व्यक्त नहीं कर सकेंगे। जब भाव ही समझ में नहीं आएंगे तो हम न्याय नहीं कर सकेंगे, न्याय नहीं कर सकने पर असंतोष होगा। असंतोष से बगावत फैलेगी और जब बगावत फैलेगी तो राज्य कहाँ रहेगा ? तात्पर्य यह कि भाषा मानवीय, राजकीय, राष्ट्रीय संस्कृति को भी अभिव्यक्ति देती है।

हिन्दी भाषा के उत्थान में काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, वर्धा, पटना आदि के साथ वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार का योगदान एवं प्रयास स्तुत्य है। भारतीय संघ तथा कुछ राज्यों की राजभाषा स्वीकृत हो जाने के फलस्वरूप हिन्दी का मानक रूप निर्धारित किया गया ताकि वर्णमाला में सर्वत्र एकरूपता रहे और मुद्रण आदि आधुनिक यंत्रों के उपयोग में लिपि की अनेकरूपता बाधक न बने। केन्द्रीय हिंदी निदेशालय के सहयोग से मानक हिंदी वर्तनी तथा नागरी लिपि का मानकीकरण भारत सरकार के द्वारा हुआ। भारत में हिंदी को राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा का भी दर्जा प्राप्त है। संविधानिक रूप से भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343(1) में देवनागरी लिपि के साथ राजभाषा के रूप में स्वीकृत की गई है। संविधान का अनुच्छेद 344 राजभाषा आयोग के गठन की स्वीकृति देता है। अनुच्छेद 345 राज्यों के भाषिक अधिकार को दर्शाता है। अनु. 346 संघ की राजभाषा केन्द्र और राज्यों के मध्य संपर्क भाषा का कार्य करेगी। अनु. 351 हिन्दी भाषा की प्रसार वृद्धि एवं विकास करने तथा हिन्दी द्वारा भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति के माध्यम बनाने की जिम्मेदारी केन्द्र सरकार को देता है, जिसमें राजभाषा

हिंदी अपना शब्द भंडार मुख्यतः संस्कृत और गौणतः अन्य भारतीय भाषाओं से ग्रहण करने की स्वीकृति देता है। संविधान का अनुच्छेद 120(1) संसद की कार्यवाही 1965 तक हिंदी अथवा अंग्रेजी में संपन्न करने की स्वीकृति देता है जबकि 120(2) 1965 के बाद पूरी तरह हिंदी में संसद की कार्यवाही की स्वीकृति देता है। 120(3) अंग्रेजी में भी यथावत् कार्यवाही करने की संसद में व्यवस्था है। इसका मुख्य कारण है, अहिंदी भाषियों का हिंदी विरोध तथा 1965 के बाद हिंदी को सक्षम बनाने के नाकाम-नाकारा प्रयास।

1952 में राष्ट्रपति के आदेश संविधान के अनुच्छेद 343(2) के अधीन व्यवस्था दी कि राज्यों के राज्यपाल उच्चतम न्यायालयों के न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति अधिपत्रों के लिए अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त हिंदी एवं अंतरराष्ट्रीय अंकों के अतिरिक्त देवनागरी अंकों का प्रयोग प्राधिकृत है। राष्ट्रपति के आदेश 1955 (सरकारी प्रयोजनों के लिए हिंदी भाषा) के अंतर्गत हिंदी के प्रयोग को निम्नलिखित कार्यों के लिए अधिकृत किया गया -

- जनता के साथ पत्र व्यवहार।
- प्रशासनिक रिपोर्ट, संसदीय रिपोर्ट, सरकारी पत्रिकाएँ।
- सरकारी संकल्प एवं विधायी कार्य संधियाँ, करार।
- अन्य देशों के साथ पत्र व्यवहार।
- राजनयिक तथा काउंसिल अधिकारियों व अंतरराष्ट्रीय संगठनों के प्रतिनिधियों को जारी औपचारिक कागज।

राष्ट्रपति के आदेश 1960 तथा राजभाषा अधिनियम 1976 के 12 नियमों में हिंदी को पुष्ट, परिवर्तित तथा व्यावहारिक बनाने के प्रमुख प्रयास प्रशासनिक हिंदी के विकास में किए गए हैं।

हिन्दी अपने जन्म के विभिन्न चरणों से गुजरती हुई आज राष्ट्रीय से अंतरराष्ट्रीय हो गई है। 1978 में जब अटलबिहारी बाजपेयी (विदेश मंत्री) ने अपना भाषण संयुक्तराष्ट्र संघ में हिंदी में दिया तब वे गर्वित थे। उन्होंने हीनता का अनुभव नहीं किया। हिंदी भाषा, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से विकसित होते हुए आज अनेक भाषाओं के शब्दों को अपने हृदय में स्थान दे चुकी है। आदिकाल के रासो, काव्य, चारण एवं भाटों के काव्यों में थी। अमीर खुसरो के दो सुखन, खालिक बारी और मुकरियाँ में भी थी और है -

चू मन तूतिह हिन्दम, अर रास्त पुरसी।

जे मन हिन्दवी पुरस, ता गोयम॥

“मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ। अगर तुम कुछ पूछना चाहते हो तो हिंदी में पूछो, मैं तुम्हें अनुपम बातें बता सकूँगा।” यह हिंदी संत नामदेव के दोहों, कबीर के बीजक, मीरा और रैदास के पदों में भी थी। हिंदी यद्यपि अवधी और ब्रज में समाई थी। गुप्तकाल, मुगलकाल, मराठा और ब्रिटिश काल तक हिंदी अपने उत्कर्ष को स्वयं प्राप्त करती रही। राष्ट्रीय आंदोलन ने हिंदी के उत्कर्ष में और वृद्धि की तथा एकता की भाव-चेतना ने भी हिंदी के द्वारा राष्ट्र यज्ञ में राष्ट्रीय कविताओं, लेखों, विचारों की आहुति दी।

आधुनिक काल प्रारंभ होते ही हिंदी साहित्य को एक वैकासिक दृढ़ आधार प्राप्त हुआ। भारतेन्दु हरिश्चंद ने आह्वान किया -

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।

बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल॥

भारतेन्दु युग में चंद्रकांता संतति (देवकीनंदन खत्री) के जासूसी ऐयारी के उपन्यास पढ़ने कई लोगों ने हिंदी सीखी। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी व्याकरण, शुद्ध लेखन के प्रति पाठकों को प्रोत्साहित किया। इसे उन्नत करने में निराला, महादेवी, पंत, प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, हजारी प्रसाद द्विवेदी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, गोपाल कृष्ण गोखले, हरिवंशराय बच्चन, लोकमान्य तिलक, डॉ. आम्बेडकर, महात्मा गाँधी, पुरूषोत्तमदास टंडन, मदनमोहन मालवीय आदि नाम उल्लेखनीय हैं। ये हिंदी के प्रति अनुराग रखने वाले हैं। राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद, राजा लक्ष्मण सिंह, लल्लूलाल, मुंशी सदासुखलाल, श्रीमती ऐनी बेसेन्ट तथा फोर्ट विलियम कॉलेज हिंदी के विकास के आधार हैं। अज्ञेय, मुक्तिबोध, जैनेन्द्र नागार्जुन, दुष्यंतकुमार, जैसे अनेक प्रसिद्ध कवि, लेखक हिंदी भाषा के संवाहक हैं।

किसी विदेशी भाषा का विरोध करना उचित नहीं। प्रत्येक भाषा अपने देश की भाषाई संस्कृति की वाहक होती है, किन्तु भारत में अपनी-अपनी भाषा को लेकर सदैव विवाद की स्थिति बनी रहती है। अपनी मातृभाषा सभी को प्रिय होती है किन्तु जब एक राष्ट्र की बात हो रही हो तो हिंदी भाषा को लेकर विवाद करना उचित नहीं। जैसा कि दक्षिण भारत और पश्चिम बंगाल करते हैं। अंग्रेजों ने मैकाले की शिक्षा पद्धति भारत में लागू की और अंग्रेजी संपर्क भाषा के रूप में यथावत सफर कर रही है। यद्यपि यह भारतीयों के अंतरराष्ट्रीय व्यवहार की सूचक है परंतु अंग्रेजी यदि भारतीय भाषाओं को अपदस्थ करके खुद उनका या हिंदी का स्थान लेना चाहे तो भारत में यह संभव नहीं है। भारत के भाषा-भाषी अपनी मातृभाषा का परित्याग किसी भी हालत में नहीं कर पाएंगे। उदाहरण के तौर पर भारतीय सिंधी व्यापारियों के भाषागत व्यवहार को लें। व्यवहार में बाजार में वे हिंदी या अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में व्यापार करते हैं किन्तु अपनी बिरादरी के तथा परिवार के लोगों से अपनी मातृभाषा सिंधी में ही बात करते पाए जाएंगे। इसी तरह 'आपला मानुस आहे' की प्रवृत्ति मराठी, बंगाली, कन्नड़, तमिल, तेलुगू एवं असमिया, उड़िया में भी पाई जाती है। मध्यप्रदेश में साड़ी का व्यापार करने आए बंगाली और दक्षिण भारत के लोग हिंदी नहीं बोल पाते।

हिंदी या अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की बात यह है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ उन्हें शामिल कर चुकी हैं। उनके व्यापार का आधार क्षेत्रीय भाषाओं तथा हिंदी में विज्ञापन तैयार करना तथा अपने ब्राण्ड को दूरस्थ भारतीय गाँवों तक पहुँचा देना रहता है। विज्ञापन की हिंदी या क्षेत्रीय विज्ञापनी भाषाएँ इसका उदाहरण हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ यदि विशुद्ध अंग्रेजी में या चीनी, जर्मनी, फ्रेंच, रशियन भाषा का प्रयोग कर अपना उत्पाद बेचने लगे तो उनका माल कम मात्रा में बिकेगा। भाषाई अवरोध के कारण उनको व्यापार में नुकसान होगा। इसलिए वर्तमान समय में अनुवादकों का सहारा लिया जा रहा है। वायस ऑफ अमेरिका, बी.बी.सी., बी.बी.सी. वर्ल्ड., चार्ना रेडियो, रशिया रेडियो तथा विश्व टी.वी. के प्रमुख चैनल जिनमें डिस्कवरी, नेशनल ज्योग्राफिक तथा व्यापार वाणिज्य के प्रमुख चैनल्स क्षेत्रीय भाषाओं तथा हिंदी में अपने कार्यक्रम अनुवाद के माध्यम से प्रस्तुत कर रहे हैं। हिंदी अब हर आम और खास की जवान बन गई है लेकिन उसका स्तर गिराया जा रहा है। हिंदी के आधुनिकीकरण में कुछ समस्याएँ हैं जिनमें पारिभाषिक शब्दों में वैज्ञानिक तकनीकी तथा कानून संबंधी शब्दों के लिए किसी प्राधिकृत शब्दावली का अभाव है हालाँकि, तकनीकी शब्दावली आयोग ने कई प्रयास किए हैं परंतु आमजन तक ये शब्द नहीं पहुँचे हैं और कई शब्दों का सही अनुवाद भी करना मुश्किल हुआ है। कभी एक ही शब्द के अनेक समानार्थी शब्द मिल जाते हैं जैसे एटम - अणु या परमाणु; इंस्पेक्टर - अधीक्षक या निरीक्षक, पर्यवेक्षक आदि। हिंदी में पारिभाषिक शब्दों को किसी केन्द्रीय अधिकरण द्वारा तैयार किया जाना चाहिए, जिसमें हिंदी एवं अन्य भाषाओं के भाषा-विद हों। विश्व में हिंदी एकमात्र ऐसी वैज्ञानिक भाषा लिपि है जो जैसी

बोली जाती है वैसी ही लिखी जाती है। अनुवाद की अपनी बड़ी समस्याएँ हैं। हिंदी अनुवाद तथा समानार्थक शब्दों में यज्ञ, तपस्या, श्रद्धा, कवित्त, भक्ति आदि के उचित पर्यायवाची अंग्रेजी में नहीं मिल पाते। अंग्रेजी के कोट, ओवरकोट, टाई का हिंदी में कोई शब्द नहीं बना है फिर भी हिंदी भाषा में समन्वय की अपार शक्ति ने विदेशी भाषा के शब्दों को इतनी सहजता से अपनाया है कि व्याकरण बाधित नहीं होता।

प्रायः विद्वानों, बुद्धिजीवियों ने यह माना कि तत्सम रूपों तथा शब्दावली में संस्कृतनिष्ठ व्याकरणिक संरचना के प्रयोग, प्रशासनिक हिंदी में होने से हिंदी भाषी, हिंदी से दूर हो जाते हैं तब अन्य भाषा-भाषियों से क्या अपेक्षा की जा सकती है। दरअसल हिंदी को नापसंद करने वाले लोग भावनाशून्य, कल्पना रहित यथार्थ से डरने वाले हैं और आज भी अंग्रेजी के गुलाम हैं। जहाँ माँ, बाप, भाई, बहन, पशु, पक्षी, प्रेमी, पति, सभी एक ही वाक्य में 'आई लव यू' में समा जाते हैं। 'रस' क्या है और 'नीरस' क्या है ? उन्हें इनका अंतर नहीं पता। भारत में माँ का प्रेम ममत्व, पिता का वात्सल्य, भाई का अनुराग, बहन का स्नेह, प्रेमी से मुहब्बत और पति से प्रेम तथा पशु-पक्षी के प्रति स्नेह आदि अनेक शब्दों से 'आई लव यू' बोला जाता है। यू तो इस वाक्य को 'आई एल ओ व्ही ई वाए ओ यू' बोला जाना चाहिए। हँसी तो मुझे इस बात पर आती है कि इसके उच्चारण में भी हिंदी की वर्णमाला के वर्णों का ही उच्चारण होता है। आ, ई, ल, व, यू अब सोचिए हिंदी जटिल है या अन्य भाषाएँ। आप तमिल बोलें या मराठी बोलें या मराठी या बंगाली, उच्चारण तो हिंदी वर्णमाला के वर्णों का ही होता है। इसी प्रकार फिल्मों में भी हिंदी के शिक्षकों, कॉलेज, प्राध्यापकों का मजाक बनाया जाता है। 'चुपके-चुपके' फिल्म में ऋषिकेश मुखर्जी ने हिंदी को कठिन बताने के लिए धर्मेन्द्र से शुद्ध हिन्दी के नाम पर हिंदी का मजाक उड़वाया है - हस्त-प्रक्षालन, लौहपथ गामिनी आदि शब्द प्रयोग किए हैं। वे इस समय अंग्रेजी का शब्द 'हैण्करचीफ' भूल गए।

आरक्षण की नीति ने हिंदी शिक्षण कार्य को प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्चतर स्तर पर बहुत कमजोर किया है। कम प्रतिशत लेकर ये शिक्षक छात्र-छात्राओं को हिंदी वर्तनी, शब्दाभ्यास, शुद्ध लेखन, बारहखड़ी, स्वर-व्यंजन का सही ज्ञान नहीं कराते। फलस्वरूप प्रारंभ से त्रुटिपूर्ण हिंदी लेखन जीवन पर्यंत रहता है। आज भी पूरी शिक्षा प्राप्त करने, डिग्री लेने के बाद भी उनमें हिंदी बोलने, पढ़ने एवं लिखने में गलतियाँ विद्यमान हैं। रही सही कसर कादरखान के 'द्वि-अर्थी संवाद' और 'लॉफ्टर चौलेंज', 'कॉमेडी सर्कस' ने पूरी कर दी है। हिंदी भाषा सुधारने हेतु न वे ईमानदार हैं, न प्रशासन, न वातावरण। आमतौर पर विद्यार्थी स, ष, श, व, ब, संयुक्ताक्षर, वर्ण, स्वर एवं वर्तनी समबंधी भूलें बड़े आराम से करते हैं यहाँ तक कि देश के नेता भी, शुनिये शज्जनों, साम को आम शभा में..... हमने देस की भलाइ करी है। हम तो गंगा किनारे का बासी हूँ मेला का मैला हो जाता है और पिता का पीता। इतना ही नहीं अब आप आधुनिकीकरण और हिंदी का सरलीकरण करते हुए चाँद - चांद, हँस - हंस को एक ही रूप में देखेंगे।

वर्तमान में अंग्रेजी के प्रभाव से त्रुटिपूर्ण हिंदी बोलना तथा बीच-बीच में अंग्रेजी शब्दों का अधिक प्रयोग 'हिग्लिश' को बढ़ावा दे रहा है। विदेशी यहाँ आकर हिंदी का प्रयोग करते हैं और हम टूटे-फूटे शब्दों में अंग्रेजी का उच्चारण कर गर्वित होते हैं। धीरे-धीरे अंग्रेजी शब्दों के अनुकरण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। भारतीय संस्कृति अब विदेशी धुनों पर नाचती-गाती है और स्वर-व्यंजनों को विदेशी गाने-बजाने के साथ चिल्ला-चिल्ली हो हल्ला बना रही है तुरा यह कि - 'यह तो फैशन है।' इस फैशन की संस्कृति ने भारतीय हिंदी की कमल और रोटी की एकता को तोड़ दिया है। अब अपनत्व, विश्वास,

नैतिकता, परोपकार, भाई-चारा, समर्पण, स्नेह, हिंदी भाषा के प्रयोग कर्ताओं से दूर हो रहा है। वेद, उपनिषद्, गीता, श्रीरामचरितमानस अब हिन्दुस्तानी युवा पीढ़ी के अधिकांश युवा नहीं जानते। फिल्मी हिंदी सब जानते हैं। चित्रपट नहीं कहते, फिल्म या मूवी कहते हैं। इस दृष्टि से कि भारत हमारा देश है, हिंदी भारत की भाषा है। हमें जापानियों, चीनियों की तरह अपनी राष्ट्रभाषा पर गर्व करना कब आएगा ? या केवल हिंदी के विश्व सम्मेलनों में राजनीतिक पहचान वाले, ऊँचे रसूख वाले लोगों की हिंदी ही बिंदी मात्र बनकर रहेगी ? हिंदी के प्रति युवा पीढ़ी की अरुचि एवं पठनीयता के प्रति आग्रह न होना इसका कारण क्या है ? यह जानना भी जरूरी है। संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति ने हिंदी को भी अंग्रेजी के शब्दों की भाँति बना दिया है। बसपा, माकपा, भेल, ज.वि.प्रा., भाजपा, द्रविण मुनेत्रकणगम आदि। हाँ, आचार्य को अचार लिखना कैसा लगेगा यह आप ही विचारिए। भारत को कब तक हम इण्डिया पुकारेंगे ? क्या अन्य देशों की तरह हम भारत को भारत लिखने और कहने का प्रयास करेंगे ? हिन्दी ने तो आरंभ से ही बिना प्रशासनिक अवलंब के अपना पथ प्रशस्त किया है। भविष्य को यह याद रखना होगा कि भारतीय संस्कृति की जड़ें संस्कृत माता से ही मजबूत हुई हैं और उसकी शाखा-प्रशाखाएँ देश की विभिन्न भाषाएँ हैं तथा पल्लव, पुष्प, फल, हिंदी की क्षेत्रीय भाषाएँ हैं और बीज है हिंदी। हिंदी में भावाभिव्यक्ति की जो क्षमता है, वह विश्व की अन्य भाषाओं में नहीं है। भारत का मानवीय विकास निज भाषा में करने की आवश्यकता है; जैसा कि भारतेन्दु का कथन है। अन्य भाषाओं का भी भारत हृदय से सम्मान करता है। परंतु भारत का अस्तित्व हिंदी भाषा में ही सुरक्षित रहेगा और हिंदी का शब्द भंडार भारत के लिए गर्व का विषय है। यह अक्षुण्ण रहेगा। बस इतना करना है कि जापान से या अन्य देश से भारत के इंजीनियर या अन्य प्रतिभाएँ इसलिए वापिस न भेजी जाएं कि उन्हें अपनी भाषा का ज्ञान नहीं है। अपनी हिंदी पर गर्व करें और उसे 'हिंग्लिश' नामक पतन से बचाएं। भाषा निर्मल बहता नीर है इसे गंदला न करें।

गुलमोहर हिंदी मेरी, मेरी हिंदी हरसिंगार

मेरी हिंदी है मीरा, कबीर, तुलसी का प्यार

भरना संवेदना सरसता इसमें अपार

'पूजा' का राष्ट्रभाषा से बढ़ता ही जाता है प्यार।'

संदर्भ :

1. प्रशासनिक हिंदी : कृष्णकुमारी, पृ. 253, पैराग्राफ 2, क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली।
2. प्रयोजन मूलक हिंदी : शर्मा रघुनंदन प्रसाद, 2004, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
3. आधुनिक जनसंचार और हिंदी, प्रो. हरिमोहन, 2006, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. प्रशासनिक हिंदी, पुष्पा कुमारी, 2000, क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली।
5. मानक हिंदी वर्तनी एवं देवनागरी लिपि, हरदेव बाहरी, तकनीकी वैज्ञानिक शब्दावली, मानव, संसाधन विकास मंत्रालय, दिल्ली।
6. दैनिक भास्कर, लोकमत समाचार, सितम्बर 2009, सितम्बर 2002
7. अर्चना चंदेल ।



भूमण्डलीकृत समाज और स्त्री

– हरदीप कौर

भूमण्डलीकरण आज की दुनिया का एक प्रमुख नारा है। लगभग सभी देशों में भूमण्डलीकरण के रूप में एक नए उभार को देखा जा सकता है। स्त्री समाज भी इस भूमण्डलीकरण की हवा से नहीं बच पाया है। यह बात अलग है कि इसका सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव स्त्रियों पर कितना और किस रूप में पड़ा है। “पूँजीवाद की ओर अग्रसर होते हुए तीसरी दुनिया के भूमण्डलीय आर्थिक प्रणाली वाले देशों में स्त्री की जो पहचान उभरती है, वह पश्चिमी नकल भर नहीं है। आधुनिक विमर्श में हिस्सेदारी कर रही स्त्री को एक सीमा तक अपना आलोचनात्मक रवैया बनाने में सफलता मिली है। परिणामस्वरूप स्त्री जीवन की नई भूमिकाएँ और इस भूमिका से जनित स्त्री-शक्ति के बावजूद व्यापक स्तर पर स्त्री को नई असमानता और असुरक्षा का सामना करना पड़ा है। हालाँकि, स्त्री समूह में वर्ग और जाति जैसी भिन्नताएँ हैं और भूमण्डलीकरण का उस पर बड़ा जटिल और विरोधाभासी प्रभाव पड़ा है। कुछ का कहना है की विश्व आर्थिक व्यवस्था की उन्नति से स्त्री भी लाभान्वित हुई है, तो कुछ के अनुसार भूमण्डलीकरण का स्त्री पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। मगर समान रूप से सभी स्वीकारते हैं कि भूमण्डलीय संघटन को प्रभावित करने वाली ताकतों ने कई तरह से स्त्री पर असर डाला है। इसलिए कुछ के लिए यदि यह परिवर्तन वरदान के रूप में है, तो बहुतेरों के लिए हानिकारक साबित हुआ है।”

“भूमण्डलीकरण का सन्दर्भ पुर्नजागरण और वैज्ञानिक उद्गम से जन्मे इन विचारों को बाजार और पूँजी के उन्मुक्त प्रवाह के अधीन कर देते हैं। भूमण्डलीकरण ने बाजारों का एकीकरण किया और विश्व अर्थव्यवस्था पर अमरीका के आधिपत्य को बढ़ाया। ताकतवर को अधिक ताकतवर बनाया और निर्बल के समक्ष तो अस्तित्व का ही संकट खड़ा कर दिया है। स्त्री की तो बिसात ही क्या है। भूमण्डलीकरण ने छोटे राष्ट्रों, गरीबों, किसानों, श्रमिकों, दलितों, अल्पसंख्यकों के समक्ष भी अस्तित्व का संकट खड़ा कर दिया है। फिर स्त्री तो पिछड़ी है, दलितों में दलित है और विकास क्रम के सबसे अंतिम छोर पर खड़ी है।”² आज भूमण्डलीकरण का ही परिणाम है कि किसान आत्महत्याएँ कर रहे हैं, बेरोजगारी, असहिष्णुता और घृणा में निरन्तर बढ़ोत्तरी हो रही है। वैश्वीकरण ने अर्थव्यवस्था, संस्कृति समाज और राजनीति के क्षेत्र में अनेक समस्याएँ उत्पन्न की है। इसका प्रभाव महिलाओं के जीवन पर स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। “नियमित वेतन भोगी एवं स्वरोजगार में महिलाओं का अनुपात कम हुआ है। श्रमिकों के रूप में महिलाओं की भर्ती की संभावनाएँ बढ़ी हैं परन्तु ग्रामीण महिलाओं में अशिक्षा की वजह से गैर कृषि क्षेत्रों में रोजगार के अवसरों में कमी आई है। यह सोच कि भूमण्डलीकरण शहरी अर्थव्यवस्था को सशक्त करेगा, महिलाओं के संदर्भ में गलत ही साबित हुई है।”³ महिलाओं की स्थिति निरन्तर भूमण्डलीकरण के कारण शोचनीय हो गई है, विशेष कर ग्रामीण महिलाओं की। भूमण्डलीकरण के नाम पर जिस विकास की बात की जा रही है वह विकास के साथ-साथ गरीबी भी लाता है। अमीर और अधिक अमीर होता

जाता है और गरीब और अधिक गरीब होता जाता है। स्त्रियों को तो रोज नई असमानताओं और असुरक्षाओं का सामना करना पड़ता है। “विकास के नाम पर स्त्री कभी विस्थापित होती है, तो कभी लैंगिक भेदभाव के कारण यौन-उत्पीड़न का सामना करती है। स्त्री के लिए काम के घंटे अधिक हो गए हैं। यह एक प्रकार से अदृश्य कीमत है जिसे स्त्री चुका रही है। अर्थशास्त्री जिसे ‘बढ़ी हुई कार्यकुशलता’ कहते हैं, वह एक प्रकार से वैतनिक अर्थव्यवस्था की कीमत को अवैतनिक अर्थव्यवस्था की ओर स्थानांतरित करने की प्रक्रिया है।” स्त्रियों की इस शोचनीय स्थिति को देखकर भी सरकार इस पर कोई ठोस कदम नहीं उठा रही है इसलिए महिलाएँ निरन्तर महाजनों के शोषण का शिकार हो रही हैं। इस नई तकनीक से रोजगार योजनाओं का विकेंद्रीकरण हो रहा है। यह एक ओर सुविधा देती है तो दूसरी ओर बेरोजगारी को जन्म देती है। उसे अब महिला श्रमिकों की ज्यादा जरूरत नहीं है। “सम्पूर्ण विश्व के अनुभव यह बताते हैं कि महिलाओं के लिए बेहतर समता सुनिश्चित करने में उद्योगपतियों की दिलचस्पी नहीं है। क्या पुरुषों के बराबर आने के लिए महिलाओं को स्वायत्तता देने में पूँजी का हित है अथवा महिलाओं को एक अलग-थलग और अधीनस्थ किस्म की श्रम शक्ति बनाए रखने में उसका लाभ है, क्या भूमण्डलीकरण में बढ़ते पूँजी के प्रभुत्व की वजह से स्त्रियों पर पुरुष, परिवार बाजार एवं व्यवस्था का नियन्त्रण बढ़ रहा है।”⁵ भूमण्डलीकरण के कारण ही ऑटोमेटाइजेशन, कम्प्यूटराइजेशन एवं संचार क्रांति का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें बाजार और मीडिया ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। बाजार और मीडिया के केन्द्र बिन्दु के रूप ने स्त्री को ही केन्द्र में रखा गया।

हमारा समाज एक महिला से क्या चाहता है? महिलाओं को किस रूप में देखना चाहता है? सैद्धांतिक पचड़ों को छोड़कर जनता की नजरों से देखें तो आदर्श नारी के लक्षणों पर नजर डाली जा सकती है। गोरी चिट्ठी, बेहद खुबसूरत, तन्वी, गृहकार्य में निपुण, घरेलू, कभी-कभार संगीत विद्या की जानकार या फिर नौकरी पेशा। ऑटोमैटिक तकनीक, पूँजीवादोत्तर, आधुनिकोत्तर, इक्कीसवीं सदी की ओर कदम बढ़ाते समाज में कृण्डली मिलान, दहेज प्रथा को बनाए रखने की भरसक कोशिश की जा रही है और साथ में घर से बाहर संघर्ष करती महिलाओं से अनिन्द्य सुन्दरी और मासूमियत की उम्मीद की जाती है और उन्हें यानी महिलाओं को ऐसा होना ही होगा, क्योंकि ऐसा न होने का मतलब है समाज में बिखराव। ऐसा जो लोग सोचते हैं, वे अजीब ही होंगे। जिन्दगी में क्या सचमुच उन लोगों ने अद्भुत नारी या अलौकिक नारी को कभी देखा है और अगर देखा भी है तो क्या वे ऐसी नारी के लायक होने की कभी खुद भी कोशिश की है। दूसरी तरफ यह विडम्बना ही है कि इन माँगों के सामने महिलाएँ सिर झुका लेती हैं, असहाय हो जाती हैं। उनका आत्मविश्वास डगमगा जाता है। मानो अनिन्द्य सुन्दरी न होकर उसने कोई अपराध किया हो, इसलिए दुनिया की अधिकांश अच्छी चीजों पर उनका कोई अधिकार नहीं। “तीसरी दुनिया की औरतों को विशेष रूप से सुन्दर घोषित किया गया। स्त्री पर ‘सुन्दर दिखने का’ भार आ पड़ा। युवतियों की प्राथमिकताएँ बदलने लगी, आदर्श बदल गए। उनकी चर्चा के महत्वपूर्ण घंटे सौन्दर्यशालाओं (ब्यूटीपार्लर) के सुपुर्द होने लगे और वे जीवन की आवश्यक प्राथमिकताओं से दूर होने लगी। पढ़ना, कैरियर, नौकरी के बजाए सुन्दर दिखना उन्हें अधिक कारगर तरीका लगा और फिर से व्यावसायिक कार्यक्षेत्र पर पुरुषों का एकाधिकार होने लगा। स्त्री निरंतर सुंदरता के असंभव प्रतिमानों का पीछा करती है और उसे अपने पर लज्जित होना सिखाया जा रहा है। अगर स्नान करने के लिए हेयरवाश फेसवाश पेडिक्योर, मेनीक्योर वाश नहीं है तो युवतियों को लगता है कि उनका जीवन बेकार है। वे अवसाद का शिकार होने लगती है विशेष फिगर की चाह में लड़कियों ने खाना-पीना छोड़ दिया और वे कुपोषण का शिकार होने लगी हैं। महानगरों में तो यह रोग इस कदर बढ़ गया है कि युवतियाँ मनचाहे

‘फिगर और फीचर्स की तलाश में कास्मेटिक सर्जरी करवा रही हैं। अपने शरीर में सिलीकॉन जैसे कैंसर जनक तत्व भरवा रही है। गाँवों में स्कूल नहीं पर ब्यूटी पार्लर खुल रहे हैं। गरीब लड़कियाँ दो-दो रुपये की जहरीली लिपस्टिक खरीद कर चर्म रोगों का शिकार हो रही है।’”

भूमण्डलीकरण के दौर में मीडिया की भूमिका भी बेहद संदिग्ध है। माध्यम से चाहे वह टी०वी० हो, सिनेमा हो या फिर विज्ञापन; वह जिस नारी चरित्र का निर्माण कर रहा है, वह कृत्रिम, काल्पनिक और सत्य से दूर है। स्त्री का यह भ्रामक चित्रण बेहद आपत्तिजनक है। भूमण्डलीकरण के तहत पनपते यौन उद्योगों को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। इसने वेश्यावृत्ति का रूप ही बदल दिया है। वेश्यावृत्ति एक उद्योग के रूप में पनप रही है। “न केवल यौन-व्यापार एक राष्ट्रेतर उद्योग है बल्कि भूमण्डलीय स्तर पर यह सबसे अधिक लाभकारी उद्योग है और भूमण्डलीय पूँजीवाद के दौर में इसका व्यापक प्रसार होता जा रहा है। अपने-आप में यह वैविध्यपूर्ण और विशिष्टता संपन्न है। यह सेवा का एक विशाल संजाल प्रदर्शित करता है। उपभोक्ता की माँग पर प्रबंध करता है और दुनिया के विभिन्न देशों में यौन मनोरंजन के नए-नए मंच निर्मित करता है। उपभोक्तावादी बाजार की जरूरत को पूरा करना और भावी ग्राहकों को लुभाने के लिए अनोखे तरीके ईजाद करना इस उद्योग की बाजारवादी रणनीति है।”⁸ अर्थात् पूँजीवादी व्यवस्था ऐसी अनुचित और लालची प्रकृति का लाभ उठाने की तलाश में रहती है। सेक्स उद्योग भी इसका अपवाद नहीं है।

अतः भूमण्डलीकरण के कारण जो हमारी भारतीय संस्कृति निरंतर हासोन्मुख होती जा रही है और पाश्चात्य संस्कृति हम पर हावी होती जा रही है। जिस भारत देश की स्त्रियों की दया, ममता, सहिष्णुता, सहनशीलता की मिसाल दी जाती थी, आज भूमण्डलीकरण के दौर में वही गुण दकियानूसी और मजाक का विषय बन चुके हैं। वस्तुतः भारतीय संस्कृति, स्त्री और सामान्य जनता को एक खास साँचे में ढालने का प्रयास किया जा रहा है, जिसका इस्तेमाल विश्व बाजार अपने फायदे के लिए कर सके। समय रहते इन बातों पर विचार करना हितकर होगा, अन्यथा आने वाला समय त्रासदी की अनंत कथा लिखेगा और उसे पढ़ने वाला कोई न होगा। बेहतर है जितनी त्रासदी हम भोग चुके हैं उसी से सबक लें और कुछ ऐसा करें जिससे भारतीय जनता और उसकी समृद्धि की स्थायी पहचान बने। और यह तभी संभव है जब भारत की स्त्रियाँ सादगी, परिश्रम और स्वाभिमान के रास्ते पर चलने का प्रयास करें। स्त्रियों के ऐसे प्रयास से भारतीय पुरुष भी मार्गदर्शन प्राप्त करेंगे।

संदर्भ :

1. बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ, प्रभा खेतान, पृष्ठ 10
2. महिला सशक्तीकरण, क्यों और कैसे? सं. डॉ० भगवती स्वामी, डॉ० सविता किशोर, पृष्ठ 9
3. उपरिवत, पृष्ठ 13
4. बाजार के बीच बाजार के खिलाफ, पृष्ठ 82
5. कैन मार्किट ऑल्टर जेंडर रिलेशंस, जेंडर टेक्नोलॉजी एवं डेवलपमेन्ट, निर्मला मुखर्जी का आलेख, दिल्ली, जनवरी - अप्रैल, 1999, खण्ड 3, अंक 1.
6. स्त्रीलिंग निर्माण, मल्लिका सेनगुप्त, पृष्ठ 178
7. महिला सशक्तीकरण, क्यों और कैसे, पृष्ठ 11, 12
8. बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ, पृ. 144



भारतेन्दु तथा समकालीन हिंदी पत्रकारों की स्वदेशी चेतना

– जगमोहन सिंह

हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में भारत की स्वाधीनता, राष्ट्रीयता, राष्ट्रोन्नति और सर्वोदय की भावना विद्यमान है। गौरवशाली सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परंपरा न खत्म होने वाली राजनीतिक चेतना एवं उच्च शैक्षणिक माहौल के बीच हिंदी की जीवंत पत्रकारिता का उद्भव हुआ। वास्तव में हिंदी पत्रकारिता का जन्म स्वदेश-प्रेम के उदय, स्वाभिमान के संचार एवं आंग्ल शासन के प्रतिरोध के फलस्वरूप हुआ। देश में जब भी संकट आता है पत्रकार हमेशा उनसे मुकाबला करने की प्रेरणा देते रहते हैं। वे स्वयं कमर कसकर मैदान में कूद पड़ते हैं। वस्तुतः पत्रकारों का मुख्य लक्ष्य लोक को चैतन्य करना रहता है।

अंग्रेजों के भारत में जड़ जमा लेने के बाद आधुनिकीकरण की प्रक्रिया तेज हो गई थी। कह सकते हैं कि अंग्रेज अपने साथ नई सभ्यता लेकर आए थे। वे भारत में रेल, तार, मशीनों का जाल बिछा रहे थे। वे यह सब अपने स्वार्थ के लिए कर रहे थे। जो भी हो, भारत आधुनिक बनने लगा था। उस समय एक ओर जहाँ जन-समूह में अंध-विश्वास के भाव थे, वहीं नई शिक्षा के सम्पर्क से एक ऐसी पीढ़ी उत्पन्न होने लगी थी, जिसमें अपनी संस्कृति, अपने धर्म, अपनी वेशभूषा, अपनी रीति-नीति में अविश्वास के भाव उत्पन्न होने लगे थे। अंग्रेज इस बात से खुश थे, क्योंकि उन्होंने नई सभ्यता लाकर भारतीयों के हृदय में विद्वेष की भावना को ही उत्पन्न किया था। वे अपनी योजना में सफल हो रहे थे इसलिए खुश होना स्वाभाविक था।

भारतेन्दु-युग के पहले तक मनुष्य की भावनाएँ सुप्त अवस्था में थीं। लोगों का जन्म जहाँ होता था, उसी गाँव अथवा शहर को वे अपनी जन्मभूमि मानते थे। संपूर्ण भारत को अपनी जन्मभूमि मानने की बात वे सपने में भी नहीं सोच सकते थे, किन्तु भारतेन्दु-युग में लोगों की विचारधाराओं में परिवर्तन होने लगा। सन 1857 ई. की जनक्रांति ने तो लोगों को अपने देश-हित के बारे में सोचने व जानने के लिए मजबूर कर दिया। बात ही कुछ ऐसी थी। अंग्रेजों ने इस जन-क्रांति को कुचलने में ऐसी क्रूर नीति अपनाई कि भारतीय जनता त्राहि-त्राहि कर उठी। भारतीय यह समझ गए कि अंग्रेज कभी भी उनके बारे में नहीं सोचते हैं। अंग्रेज भारत से कच्चा माल ले जाते थे और अपने यहाँ से विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाकर पुनः यहाँ बेचते थे। भारत दिन-प्रतिदिन गरीब होता जा रहा था। लोग इस बात को भली-भाँति समझते थे पर कुछ कर नहीं पाते थे। भारतीय बाजारों में विदेशी वस्तुओं की भरमार हो रही थी। लोग धीरे-धीरे इन वस्तुओं के अभ्यस्त होते जा रहे थे। भारतेन्दु-युग के पत्रकार यह सब देखकर चिंतित थे। उन्हें यह देखकर ग्लानि होती थी कि भारतीय विदेशी वस्तुओं का प्रयोग कर रहे हैं। उन्होंने भारतीयों में स्वदेशी-चेतना जगाने का प्रण लिया। अपनी पत्रिकाओं में वे किसी न किसी पृष्ठ पर स्वदेशी-चेतना जगाने संबंधी लेख लिखा करते थे। भारतेन्दु-युग के पत्रकार स्वदेशी वस्तुओं को उम्दा बताते थे एवं लोगों

को सलाह देते थे कि तुम अपने देश में निर्मित वस्तुओं का ही उपयोग करो। भारतेन्दु-युग की हिंदी पत्रकारिता में स्वदेशी-चेतना का जैसा आग्रह है, आज हमारे स्वतन्त्र देश की पत्रकारिता में वैसी देश-प्रीति की लहर खोजने से भी नहीं मिलेगी। “पूर्व स्वातंत्र्य काल की पत्रकारिता ने देश-प्रीति की आबोहवा तैयार की, स्वदेशी संस्कृति के प्रति लोगों को सुमुख बनाया।”¹ भारतेन्दु-युग के पत्रकार राजनीतिक आजादी को ही प्रमुख नहीं मानते थे, बल्कि वे साम्राज्यवाद से मुक्ति दिलाते हुए स्वदेशी की भावना को लोगों में जगाना चाहते थे। उस युग में देश-प्रीति की भावना मुख्य थी।

भारतीयों के हृदय में स्वदेशी की चेतना को जगाने में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का अमूल्य योगदान है। सर्वप्रथम स्वदेशी की गूँज की शुरुआत यदि किसी ने की, तो वे भारतेन्दु हरिश्चंद्र ही थे। महात्मा गाँधी ने जिस स्वदेशी आन्दोलन पर बल दिया था, उसकी भूमिका बहुत पहले ही भारतेन्दु-युग में तैयार हो चुकी थी। “भारतेन्दु ने गाँधी से बहुत पहले ही स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात किया था और तदीय समाज की स्थापना की थी।”² उन्होंने अपनी पत्रिकाओं द्वारा ब्रिटिश आर्थिक दोहन से बचाने और देश को आत्म-निर्भर स्वालम्बी राष्ट्र बनाने के लिए स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन व उपभोग पर जोर देकर राष्ट्र की राजनीतिक धारा को नया मोड़ दिया था। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने ‘कविवचनसुधा’, ‘हरिश्चंद्र मैंगजीन’, ‘हरिश्चंद्र चन्द्रिका’ एवं ‘बालाबोधिनी’ नामक जितनी भी पत्रिकाओं का संपादन किया, सभी में स्वदेशी के प्रचार-प्रसार की भावना अवश्य रहा करती थी। “23 मार्च, 1874 ई. की ‘कविवचनसुधा’ में भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने एक प्रतिज्ञा-पत्र प्रकाशित किया था, जो हिंदी पत्रकारिता के माध्यम से स्वदेशी चेतना का प्रथम शंखनाद था”³ इसमें भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने लिखा, “हमलोग सर्वान्तर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हमलोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिनेंगे और जो कपड़ा पहले से मोल ले चुके हैं और आज की मिति तक हमारे पास हैं उनको तो उसके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भाँति का भी विलायती कपड़ा न पहिरेंगे, हिन्दुस्तान ही का बना कपड़ा पहिरेंगे हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या प्रायः सबलोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चंद्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देशी हितैषी इस उपाय से वृद्धि में अवश्य उद्योग करेंगे ?”⁴

स्वदेशी के व्यवहार के लिए यह गंभीर प्रतिज्ञा ऐतिहासिक महत्व रखती है। इस प्रतिज्ञा पत्र पर भारतेन्दु की अपील पर कई लोगों ने हस्ताक्षर किए थे। डॉ. रामविलास शर्मा ने इस प्रतिज्ञा पत्र के महत्व को उजागर करते हुए कहा, “हिन्दी भाषी जनता इस बात पर गर्व कर सकती है कि उसके नवजागरण के वैतालिक हरिश्चंद्र ने चौबीस वर्ष की अवस्था में स्वदेशी के व्यवहार की यह गंभीर प्रतिज्ञा की थी। उस दिन तरुण हरिश्चंद्र ने न केवल हिन्द प्रदेश के लिए वरन समूचे भारत के लिए एक नए युग का द्वार खोल दिया था”⁵

भारतेन्दु हरिश्चंद्र चाहते थे कि विज्ञान, कला, कौशल, शिल्प और टेक्नोलॉजी का भी देश की उन्नति के लिए देश में ही विकास हो। उन्होंने यथासंभव देश के पूँजीपतियों का आह्वान करते हुए कहा था कि भारत में विलायत में प्रचलित मशीने मँगवाई जाए और स्वदेशी उद्योग का प्रसार कर विदेशी पूँजी द्वारा हो रही लूट को बंद किया जाये। भारतेन्दु के लिए स्वदेशी का मतलब सिर्फ विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करना नहीं था, बल्कि देश में उद्योगीकरण के लिए संघर्ष भी था। उन्होंने ‘कविवचनसुधा’ द्वारा देशवासियों को अंग्रेजी साम्राज्यवादी नीति के शोषण का सही रूप दिखाते हुए चेताया और देश की छिपी हुई लूट पर ब्रिटिशों ने जो पर्दा डाल रखा था, उसे हटा दिया। भारतेन्दु हरिश्चंद्र विदेशी माल भारत आने

के प्रबल विरोधी थे। वे नहीं चाहते थे कि विदेश के तैयार माल यहाँ आये। उन्होंने भारतवासियों को सचेत करते हुए कहा कि अंग्रेज आधुनिकीकरण के नाम पर हमारा शोषण कर रहे हैं। रोज भारत का धन विदेश जा रहा है और हम केवल कृत दास बनकर बैठे हुए हैं। उन्होंने कहा विलायती चीजों का उपयोग मत करो। जो चीजें विलायत से आती हैं उनका उत्पादन अपने देश में ही करो। 9 फरवरी 1874 ई. की 'कविवचनसुधा' में भारतेन्दु हरिश्चंद्र लिखते हैं, "अब भी हम लोगों को कला-कौशल्य की ओर ध्यान देना चाहिए। लोगों को तो अंग्रेजी वस्तुओं की रुचि लगी है तो अंग्रेजों के सामान सब कारखाने यहाँ नियत किए जाएँ, पर अभी यहाँ के व्यापारियों में एतना सामर्थ्य नहीं है कि अंग्रेजों के समान लोहा पीतल इत्यादि मौल्यवान पदार्थ लेकर मिट्टी के वस्तु तक बनावें जैसे की अंग्रेजी व्यापारी माल भेजने लगे देखो बढ़ई आदि छोटे-छोटे व्यपारियों को काम मिलना कठिन हो गया है यहाँ तक कि घरों तक के खिड़कियाँ दरवाजे अदि सब विलायत से बनकर आते हैं।"⁶

भारतेन्दु हरिश्चंद्र अपनी पत्रिकाओं के माध्यम से केवल हिन्दुओं को ही स्वदेशी का पाठ नहीं पढ़ा रहे थे, बल्कि उन्होंने मुसलमानों में भी स्वदेशी चेतना जगाने की भरपूर कोशिश की। देशोन्नति के उपाय बताते हुए उन्होंने कहा अगर हम सब एक नहीं होंगे तो हममें स्वदेशी की भावना उत्पन्न ही नहीं होगी। वे कहते हैं, "यह समय इन झगड़ों का नहीं, हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिये"⁷ आज ऐसी भावना कहाँ देखने को मिलती है। लोगों में आपसी सौहार्द की भावना खत्म होती जा रही है। आज लोग एक दूसरे पर विश्वास नहीं करते हैं। भारतेन्दु ने उस समय यह बात कही थी जब हमारा देश ब्रिटिशों के अधीन था। आज की जो परिस्थितियाँ हैं ऐसा लगता है हम एक कदम भी आगे नहीं बढ़े हैं, जहाँ थे वहीं हैं। इसी तरह 'हरिश्चंद्र मैगजीन', 'हरिश्चंद्र चन्द्रिका', एवं 'बालाबोधिनी' पत्रिका के माध्यम से भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने स्वदेशी की गूँज जगाने की भरपूर कोशिश की। कहना होगा कि हिंदी प्रदेश में भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने जिस प्रकार स्वदेशी आन्दोलन चलाया बाद में उसकी गूँज पूरे भारत में सुनाई दी। उन्होंने स्वदेश के लिए तन, मन, धन सभी कुछ अर्पित कर दिया था। साथ ही देश ही की चिंता में सदा व्यग्र रहकर अपने जीवन का बलिदान किया था।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने स्वदेशी चेतना का जो आन्दोलन चलाया बालकृष्ण भट्ट ने उसे आगे बढ़ाया। उन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' के माध्यम से स्वदेशी चेतना की जोत जगाई। उन्होंने हिंदी को अपनी देशी भाषा माना एवं उसे सरकारी दफ्तरों, अदालतों तथा शिक्षा सस्थाओं में जारी करने की पुरजोर कोशिश की। वे अकसर हिंदी के हित के बारे में 'हिन्दी प्रदीप' में लिखा करते थे एवं स्वदेशी चेतना को लोगों में जगाया करते थे। उस परतंत्र प्रतिकूल परिवेश में हिंदी भाषा के बारे में सोचना, कहना एवं लिखना मुश्किल का काम था, परन्तु संपादक कब पीछे हटने वाले थे। हिंदी प्रचार के लिए उन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' में जोरदार आंदोलन चलाया और कहा, "जिस देश की न्याय की सुगमता का वह सारा प्रबंध है, वहाँ की मातृभाषा हिन्दी को न दाखिल करना मानों परीक्षा रूपी नारी की नाक काटना हैहर एक सरकारी नौकर को हिन्दी सिखने का नियम कर दें और यह भी नियम हो जाए कि सरकारी दफ्तरों के चापरासी या दफ्तरी और पुलिस के कांस्टेबल बिना नागरी में परीक्षा दिए न भरती किये जाएँ"⁸। 'हिन्दी प्रदीप' के संपादक यह जानते थे कि सबसे बड़ा झगड़ा भाषा को लेकर है। अगर देश में देशी भाषा लागू हो जाए तो लोगों में स्वदेशी चेतना अपने आप उत्पन्न हो जाएगी। बालकृष्ण भट्ट स्वदेशी भावना को जगाते हुए भारतीयों के समक्ष अंग्रेजों के काले कारनामों का पर्दाफास करते हैं और कहते हैं कि हमारी लक्ष्मी दिन पर दिन विदेश जा रही है और हम कुछ नहीं कर पा रहे हैं। अगर हम ऐसा न करने दें तो अंग्रेज भूखों मर जाएंगे। 'हिन्दी प्रदीप' ने स्वदेशी वस्त्रों के प्रचार के लिए कई सुझाव भी दिए थे जिससे निश्चित तौर पर लोगों

में स्वदेशी के प्रति प्रेम-भावना जगाई जा सकती थी। बालकृष्ण भट्ट 'हिन्दी प्रदीप' में लिखते हैं, "देशी वस्तुओं का बरतना धर्म का एक अंग मान लिया जाए और सीधी-सादी स्त्रियों को सुझा दिया जाए कि विलायत के कपड़े पहनोगी तो नरक जाओगी। जो जितना ही देशी वस्तु काम में लावेंगी उसके लिए उतना ही स्वर्ग में जाना सुलभ हो सकता हैसच पूछो तो देश में दारिद्र फ़ैलने का विदेशी वस्तु का बर्ताव कारण है। देश के धन को घुन लग गया है।"⁹

बालकृष्ण भट्ट के साथ-साथ प्रतापनारायण मिश्र ने भी स्वदेशी की चेतना को जनमानस के हृदय में जगाया। इनके हृदय में स्वदेशी के प्रति गहरा लगाव था। इन्होंने कानपुर से प्रकाशित अपने 'ब्राह्मण' पत्र के माध्यम से स्वदेशी चेतना की लौ जलाई। यह पत्र उत्कृष्ट कोटि का था। इसमें अंग्रेजों के काले कारनामों को नित्य उजागर किया जाता था। अंग्रेजों ने भारत में लूट मचा रखी थी और यहाँ का सारा धन ले जा रहे थे। उन्होंने भारत को अर्थ विपन्न बना दिया था। अंग्रेजों की इस नीति के खिलाफ मिश्र जी ने अपनी आवाज उठाते हुए 'ब्राह्मण' पत्र में कहा, "जिस भारत की लक्ष्मी को मुसलमान सौ वर्षों में अनेक उत्पात करके भी न ले जा सके, उसे उन्होंने सौ वर्ष में धीरे-धीरे ऐसे मजे के साथ उड़ा लिया कि हंसते-खेलते विलायत जा पहुँची"¹⁰ प्रतापनारायण मिश्र हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान को अपना मूलमंत्र मानते थे। उनके समय में विदेशी वस्तुओं का प्रचार जोर-शोर से हो रहा था। लोग वेदेशी वस्तुओं के प्रलोभन में आते जा रहे थे। इधर देश में करों का भार दिन पर दिन बढ़ता जा रहा था। वे यह देखकर चिंतित थे। "वे विदेशी वस्तुओं के प्रचार को रोकने और स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर अधिक बल देते थे, ताकि देश का धन देश में ही रहे।"¹¹ 'ब्राह्मण' पत्र में वे कहते हैं, "हम और हमारे सहयोगी लिखते-लिखते हार गए कि देशोन्नति करो, पर यहाँ वालों का सिद्धांत है कि अपना भला हो, देश चाहे चूल्हे में जाए, यद्यपि जब देश चूल्हे में जाएगा तो हम बचे न रहेंगे। सो भाइयों, यह तो तुम्हारे मतलब की बात है। आखिर कपड़ा पहनोगे ही एक बार। हमारे कहने से एक जोड़ी देशी कपड़ा बनवा डालो।"¹² परन्तु जब भारतीयों की चेतना तब भी नहीं जागी तब वे भारतीयों को फटकारते हुए कहते हैं,

" सर्वसु लिए जात अंग्रेज, हम केवल लेक्चर के तेज ,

श्रम बिन बातें का करती हैं, कहुँ टेटकन गाजै टरती हैं।"¹³

प्रतापनारायण मिश्र स्वयं अपने जीवन में स्वदेशी वस्त्रों और चीजों का व्यवहार करते थे। सादा वस्त्र, सादा भोजन ही उनके जीवन का अंग था। तड़क-भड़क और दिखावापन उनमें नहीं था। स्वदेशी वस्तुएँ उन्हें विशेष प्रिय थी। इस तरह जिनका जीवन ही सादगीपूर्ण हो फिर वाणी का क्या कहना ?

भारतेन्दु-युग के पत्रकारों में बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' का योगदान भी अविस्मरणीय है। प्रेमघन ने 'आनंदकादम्बिनी' पत्रिका के माध्यम से स्वदेशी चेतना की ऐसी लहर चलाई थी, जिससे सारा देश प्रभावित हो गया था। इनमें भारतीयता कूट-कूट कर भरी हुई थी। प्रेमघन उन व्यक्तियों में नहीं थे जो पत्र प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य अर्थ-संग्रह को मानते हैं बल्कि उन्होंने पत्र का प्रकाशन लोक-कल्याण के निहितार्थ किया था। हाँलाकि, 'आनंदकादम्बिनी' एक कविता प्रधान पत्रिका थी फिर भी इसमें स्वदेशी का प्रचार जोर-शोर से किया जाता था। देश की आर्थिक बदहाली को प्रस्तुत करते हुए संपादक का कहना था, "किसान कष्ट से अन्न पैदा करते हैं परन्तु उसे खाते हैं दूसरे द्वीप के लोग। उसे बेचकर किसान सीप के बटन और मिट्टी के खिलौने जैसी चीजें पाते हैं। रुपया रहा तब तक नशा रहा; जब न रहा तब "लोग ताशा-सा पेट बनाते भूख-भूख चिल्ला रहे हैं।"¹⁴

बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' भारतेन्दु के विचारों के पूर्ण समर्थक थे। 'आनंदकादम्बिनी' में विदेशी नीति का भंडाफोड़ करते हुए वे साफ कहते हैं, "अंग्रेजी राज्य में कर के कारण जो क्लेश किसानों को

अब सहना पड़ा है वह पहले मुसलमानों के राज्य में न था।”¹⁵ अर्थात् किसानों पर कर लगाकर उनसे अधिक से अधिक अन्न हड़प लो और उसे विदेश भेज दो तथा यहाँ अनउपयोगी महाँगी वस्तुओं की भरमार कर दो। धीरे-धीरे भारतीय इसके आदि हो ही जाएंगे। यह नीति अंग्रेजों ने अपनाई हुई थी। प्रेमघन जी को इस बात का हमेशा दुःख रहता था कि भारतीय अपने देश की वस्तुओं का प्रयोग नहीं करते हैं जबकि विदेशी यहाँ आकर भी अपने देश की वस्तुओं का प्रयोग करते हैं।

पं० सदानंद मिश्र ने भी भारतीयों में स्वदेशी चेतना की लौ जलाई। उन्होंने ‘सारसुधानिधि’ नामक साप्ताहिक पत्र का संपादन किया। यह पत्र भारतीयों की दुर्दशा पर रोता था। भारत के दुर्भाग्य पर रोते हुए ‘सारसुधानिधि’ में संपादक कहते हैं, “हे प्रिय भारतवासियों ! यह न समझो कि भारत के दुर्भाग्य हमको क्या, हमारा तो एक प्रकार निर्वाह होता है, यह तो हम निश्चय कहेंगे कि इस समझ से तो कदापि सुधरना नहीं। अतएव भारत के दुर्भाग्य को अपना दुर्भाग्य और भारत के सौभाग्य को अपना सौभाग्य समझो। नहीं तो भारत का दुर्भाग्य कदापि दूर नहीं होगा।”¹⁶ इस तरह देश के दुर्भाग्य को अपना दुर्भाग्य समझने की भावना सदानंद मिश्र के हृदय में थी। पं० सदानंद मिश्र स्वदेशी भाषा के हिमायती थे। उनका कहना था उठो, जागो और अपनी भाषा में उन्नति करो। जब तक हमारी अपनी देशी-भाषा की उन्नति नहीं होगी, तब तक हमारे देश का कल्याण अनिश्चित है।

इसी क्रम में पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र का नाम भी प्रमुख है, जिन्होंने भारतीयों में स्वदेशी चेतना को जगाया। उन्होंने ‘उचितवक्ता’ का संपादन किया। ‘उचितवक्ता’ पत्रिका हमेशा भारतीयों के हित में अपने उद्गार व्यक्त करता था। संपादक को बहुत कष्ट होता था कि भारत के लोग अपनी सभ्यता, संस्कृति को हेय समझाने लगे हैं। इसी कारण 25 जून 1881 ई. के संपादकीय वक्तव्य ‘देशी वस्तु क्यों नहीं पसन्द आती’ में संपादक कहते हैं, “..... किसी को भी भारतखंड की बनी कोई वस्तु नहीं पसन्द आती, किन्तु विलायती वस्तु ऐसी पसन्द आती है कि मानो श्री श्री जगदीश्वर ने अपने निजधाम से बनाकर भेजी हो, आजकल कौन-सा राजा व मनुष्य सभ्य कहा जाता है वा वह अपने को आप सभ्य समझता है, जो अपनी स्वदेशी रीति और चाल-ढाल छोड़ विलायती ग्रहण करे - क्यों न हो जो बुद्धि के चौबच्चे का पापड़ा न फुट गया है ? सर्वसाधारण को कौन कहे बड़े-बड़े महाशय जिनसे आर्य देश की उन्नति की आशा करने में आती हैं, उन्हीं को राजभोग ने ग्रस रखा है।”¹⁷

इसके अलावा भारतेन्दु-युग में कई ऐसे और भी पत्रकार थे, जिन्होंने अपनी पत्रिकाओं द्वारा भारतीयों के हृदय में स्वदेशी चेतना को जगाया। उन पत्रकारों में प्रमुख थे - पं० केशव राम भट्ट (बिहारबंधु), सदासुखलाल (नागरी पत्रिका), पं० छोटूलाल मिश्र (भारतमित्र), पं० राधाचरण गोस्वामी (भारतेन्दु), राजा राम पाल सिंह (हिन्दुस्थान), श्री राम कृष्ण वर्मा (भारतजीवन), बाबू सीताराम (भारतोदय) आदि ।

अंग्रेजों के शासनकाल में पत्रिकाओं द्वारा स्वदेशी चेतना को जगाना कम साहसपूर्ण काम नहीं था। सरकार की वक्र दृष्टि हमेशा ही देशी पत्रकारों पर बनी रहती थी। जरा सा कुछ हुआ नहीं कि नोटिस भेज दी जाती थी। अंग्रेजों ने अपनी सभ्यता का प्रचार-प्रसार जिस रूप में करना शुरू किया था उसकी चकाचौंध में भारतीय आने लगे थे। शिक्षित वर्ग इसमें आगे था। साधारण जनता का हाल और भी बुरा था। ऐसे में राष्ट्र सुधार की बात सोचकर लोगों में स्वदेशी चेतना जगाने का काम भारतेन्दु एवं उनके समकालीन पत्रकार कर रहे थे। भारतेन्दु-युग के पत्रकारों ने भारतीयों की पीड़ा को समझा था और उन्हें बुरी परिस्थितियों से निकालने का प्रण लिया था। इस प्रयास में भारतेन्दु हरिश्चंद्र सबसे पहले आगे आए। थे। भारतेन्दु हरिश्चंद्र एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते थे जो सर्वसमावेशी हो, सद्गुण युक्त हो

और अंधविश्वासों से मुक्त हो। भारतेन्दु हरिश्चंद्र के इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर कई पत्रकार सामने आए एवं उन्होंने स्वदेशी चेतना की गूँज भारतीयों के हृदय में जगाने की भरपूर कोशिश की। वे अपने प्रयास में काफी हद तक सफल भी हुए थे।

कूल मिलाकर कहा जा सकता है कि भारतेन्दु हरिश्चंद्र एवं उनके समकालीन पत्रकारों द्वारा चलाए गए स्वदेशी चेतना की अनुगूँज आज भी कहीं ना कहीं हमारे समाज में सुनाई पड़ती है। आज हम स्वतंत्र केवल कहने के लिए रह गए हैं। वास्तव में हम स्वतंत्र नहीं हैं। अब भारत में विदेशी निवेश को बढ़ावा और खुदरा व्यापार पर बाहरी तत्वों के नियंत्रण की अनुमति दी जा चुकी है। क्या ऐसा नहीं लगता कि हम फिर गुलामी की तरफ आगे बढ़ने लगे हैं। छोटे-छोटे व्यवसायी जो अपना भरण-पोषण अभी तक आराम से कर रहे हैं, आने वाले कल में वे यह न कर पाएंगे। क्या जरूरी है विदेशी निवेशकों को भारतीय खुदरा व्यापार पर नियंत्रण करने दिया जाए। क्यों न हम कोई ऐसा उपाय करें जिससे हमारी अर्थ - व्यवस्था और सुदृढ़ हो और भारत की लाज रह जाए। परन्तु सोचेगा कौन ? इतना ही नहीं आज हमें ब्रांड की वस्तुएँ पहनना ज्यादा अच्छा लगता है। हम ब्रांड के पीछे भाग रहे हैं। आज हमें भारतीय वस्तुएँ टिकाऊ नहीं लगती। इसी कारण हमारे देश में बनी वस्तुओं की खपत हमारे देश के साथ-साथ विश्व बाजार में कमते जा रही है। जब हम अपने प्रति इमानदार नहीं हैं तब हमसे दूसरे राष्ट्र इमानदारी की उम्मीद कैसे कर सकते हैं ? हमने भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महात्मा गाँधी की विचारधाराओं को तिलांजलि दे दी है, जिन्होंने स्वदेशी वस्तुओं के महत्व पर प्रकाश डाला था और विदेशी वस्तुओं की होली जलाई थी। आज फिर हमें भारतेन्दु एवं उनके समकालीन पत्रकारों की जरूरत महसूस हो रही है। उन्होंने स्वदेशी चेतना की जो ललक भारतीयों में जगाई थी उसकी महती आवश्यकता आज हमें कहीं ज्यादा है।

संदर्भ :

1. कृष्णबिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1994, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 22.
2. डॉ वंशीधर लाल, भारतीय स्वतंत्रता और हिन्दी पत्रकारिता, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना, 1989, पृष्ठ ख
3. कृष्णबिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1994, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 13.
4. डॉ वंशीधर लाल, भारतीय स्वतंत्रता और हिन्दी पत्रकारिता, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना, 1989, पृष्ठ 8.
5. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, सातवाँ संस्करण, पृष्ठ 74.
6. वही, पृष्ठ 76.
7. वही, पृष्ठ 81.
8. डॉ मीरा रानी बल, राष्ट्रीय नवजागरण और हिन्दी पत्रकारिता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994, पृष्ठ 255.
9. वही, पृष्ठ 185.
10. डॉ शांति प्रकाश वर्मा, द्वितीय भारतेन्दु : पं. प्रतापनारायण मिश्र, अमित प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 67.
11. वही, पृष्ठ 68.
12. डॉ लक्ष्मीकांत पाण्डेय, पत्रकारिता : सिद्धांत और प्रयोग, साहित्य रत्नालय, कानपुर, 1991, पृष्ठ 74.
13. डॉ शांति प्रकाश वर्मा, द्वितीय भारतेन्दु : पं. प्रतापनारायण मिश्र, अमित प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 67.
14. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, राजकमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, आवृत्ति संस्करण, पृष्ठ 36.
15. बच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, पृष्ठ 71.
16. नागरी पत्रिका, अंक 8, वर्ष 8, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, 1975, पृष्ठ 7217, कृष्णबिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2004, चौथा संस्करण, पृष्ठ 213-214.



उपन्यास में सामाजिक जीवन का चित्रण : सैद्धांतिक पक्ष

– चित्तरंजन कुमार

समाज विचारों से बना है। समाज विचारों का क्रियात्मक स्वरूप है। सामाजिक संस्थाएँ जिनमें धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और पारिवारिक आदि सभी संस्थाएँ शामिल हैं, इकट्ठे होकर समाज का ढाँचा बनाती हैं। इन संस्थाओं को मिलाकर जो चित्र उभरता है, उसे मनुष्य अपनाता है। समाजशास्त्र का संबंध उन प्रक्रियाओं से है जिनसे समाज परिवर्तित होता है क्रांतिकारी रूप में, या एक प्रकार की समाज व्यवस्था से दूसरे प्रकार की समाज व्यवस्था में। समाजशास्त्र की तरह, साहित्य का मुख्य सरोकार होता है—मनुष्य का सामाजिक जगत उस जगत के प्रति उसकी अनुकूलता और उसे बदलने की इच्छा। कलाकृति के रूप में साहित्य सामाजिक जीवन की सतह में गहरे प्रवेश करके, उन स्थितियों का उद्घाटन करता है जिसमें स्त्री-पुरुष समाज का अनुभव भाव के स्तर पर करते हैं। रिचर्ड होगार्ट ने लिखा है, “पूरे साहित्यिक साक्ष्य के अभाव में, समाज का विद्यार्थी समाज की पूर्णता से बेखबर रहेगा।” इस प्रकार साहित्य और समाजशास्त्र एक-दूसरे के पूरक हैं। साहित्य संसार में मानव की सामाजिक जीवन को जिस विधा में आसानी से देखा जा सकता है, वह उपन्यास है। उपन्यास की कला में मौजूद मनुष्य के समाज सम्बद्ध और इतिहास सापेक्ष रूप को आसानी से पहचाना जा सकता है।

उपन्यास का इतिहास और उसका समाजशास्त्र उद्योगीकरण से घनिष्ठ रूप में संबद्ध है। उपन्यास उन समाजों में प्रमुख साहित्यिक विधा के रूप में उभरता है, जिनकी विशेषताएँ औद्योगिक पूँजी, शहरी संस्कार और लचीली वर्ग-व्यवस्था है। इसी सामान्य अर्थ में उपन्यास औद्योगिक मध्यवर्ग की व्यापक दृष्टि को प्रतिबिम्बित करता है, एक ऐसे वर्ग की दृष्टि को जिसके संरक्षण में उपन्यास का लचीला सांस्कृतिक महत्त्व सुरक्षित रह सका है। काल, चरित्र सामाजिक परिवर्तन के यथार्थवादी, ऐतिहासिक एवं विशिष्ट अंकन तथा ब्यौरों पर अधिक बल देने के कारण उपन्यास पूर्ववर्ती कथा साहित्य जैसे महाकाव्य से स्पष्ट रूप में भिन्न है। उपन्यास ने मानवीय अनुभव को सम्पूर्णता के साथ प्रस्तुत करने में महाकाव्य का स्थान ले लिया। पूँजीवादी सभ्यता की विषमता, संघर्ष, जटिलता और विविधता की अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास सर्वथा सक्षम और योग्य था। भारत में अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित होने के पूर्व यहाँ का राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक ढाँचा सामन्ती था। सामन्ती व्यवस्था उपन्यास के उदय के लिए अनुकूल समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि का निर्माण करने में असमर्थ थे। इसी कारण से पूँजीवाद ने उसे उचित उपादान, उपयुक्त माध्यम और प्रचारात्मक साधन प्रदान कर विश्व साहित्य का अंग बना दिया। उत्पादन के साधन में परिवर्तन होने से व्यक्ति और समाज की समस्याएँ बढ़ी, सामाजिक विषमता ने व्यक्तिगत विशेषता को जन्म दिया, मुद्रण यंत्र का प्रचार हुआ और अवकाश में वृद्धि हुई। इससे उपन्यासकारों को नई कथा सामग्री विभिन्न प्रकार के पात्र मिले। काडवेल ने कहा है, “उपन्यास के

विकास का आधार श्रम-विभाजन है। वास्तव में वह आर्थिक परिवर्तन से उद्भूत नये मनुष्य का नया साहित्य है। स्तादल ने अपने एक प्रख्यात अनुच्छेद में लिखा था कि उपन्यास राजमार्ग से नीचे की ओर यात्रा करने वाला दर्पण है। कभी वह गगन की नीलिमा को प्रतिबिम्बित करता है और कभी डबरे की कीचड़ को। इस दृष्टि से उपन्यास सामाजिक संरचना के विविध पक्षों का पारिवारिक संबंधों का वर्गगत संघर्ष और संभवतः परस्पर विलग प्रवृत्तियों और आबादी की बनावट का सीधा प्रतिबिम्ब है। उपन्यास सामाजिक विविधताओं का चित्रण करते हुए पाठक को यह अवसर प्रदान करता है कि वर्णित जीवनमूल्यों को चुनें। उनकी सहानुभूति का विस्तार करता है और जीवन जीने की कला भी सिखाता है। उपन्यास आधुनिक नैतिक आयाम तैयार करता है, इसलिए रूढ़िवादी नैतिकता के समर्थक इसका विरोध करते हैं। नवयुवकों को उपन्यास से बचने की सलाह दी जाती रही है। डब्ल्यू०जे० हार्वे ने ठीक ही लिखा है कि, “उपन्यास की रचना में क्रियाशील मानसिकता समाज में लोगों की पूर्णता, विविधता और वैयक्तिकता को स्वीकार करती है। वह विश्वासों तथा मूल्यों की अनेकता में विश्वास करती है, सहिष्णुता, संशयवाद और दूसरों की स्वायत्तता के प्रति आदर-भाव उसके आदर्श हैं मतांधता और कट्टरता से उसे घृणा है।”² उपन्यास सामाजिक जीवन के अनेक नैतिक-अनैतिक गतिविधियों को यथार्थवादी ढंग से वर्णित करता है। सामाजिक यथार्थ से भागकर कोई भी उपन्यास, उपन्यास नहीं रह जाता है।

साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास का स्वरूप समाज पर अत्यधिक निर्भर करता है। उपन्यास की रचना एक कला है, इसे केवल सामाजिक दस्तावेज नहीं समझा जा सकता है। सामाजिक यथार्थ, जीवन के अनुभव और इतिहास की गति रचनाकार की सृजनशीलता से पुनर्चित होकर ही उपन्यास में आते हैं। उपन्यास और सामाजिक जीवन के सम्बन्ध को स्थापित करते समय यह ध्यान रखना होगा कि उपन्यास का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया जाए न कि किसी सामाजिक दस्तावेज की तरह उसकी व्याख्या की जाए। मिशेल जेराफा ने लिखा है कि, “उपन्यास के रूप का भी अपना इतिहास होता है, जो एक सीमा तक समाज और इतिहास से स्वतंत्र होता है। जो समाजशास्त्री उपन्यास की इस विशेषता की उपेक्षा करता है, वह यह नहीं पहचान पाता कि उपन्यास कैसे सामाजिक यथार्थ का संश्लिष्ट प्रतिरूप बनता है। वह समाज और संस्कृति पर उपन्यास के प्रभाव को भी नहीं समझ पाता। यह समझना आवश्यक है कि उपन्यासकार एक कलाकार है, उसकी रचना में ऐसे यथार्थ की अभिव्यक्ति होती है, जिसके रूप और अर्थ के बारे में वह पहले से सजग है। वह यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए एक ओर उपन्यास कला की उन तकनीकों का प्रयोग करता है, जिन्हें उसने अपने पूर्ववर्तियों से सीखा है और दूसरी ओर अपने अनुभवों से कुछ नए कला-कौशलों का आविष्कार भी करता है।”³ अतः उपन्यास एक सामाजिक अभिव्यक्ति का रूप है। सामाजिक यथार्थ के कई रूप हैं, प्रत्येक उपन्यासकार के लिए जीवन के यथार्थ के अलग-अलग स्तर महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी में ऐसे उपन्यासकार हैं जिनकी रचनाओं के केन्द्र में समाज का कोई वर्ग होता है और चरित्र उस वर्ग का प्रतिनिधि के रूप में सामने आते हैं। कुछ ऐसे उपन्यासकार हैं जिनकी रचनाओं के केन्द्र में व्यक्ति होता है और व्यक्ति चरित्र के व्यक्तिगत गुणों, जीवन के अनुभवों और मानवीय संबंधों के माध्यम से समाज व्यक्त होता है। इन दोनों के द्वारा उपन्यासों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण एक ही प्रकार से नहीं हो सकता। समाज को देखने का जो दृष्टिकोण प्रेमचन्द के पास था, वह दृष्टिकोण रेणु के पास नहीं था। इन दोनों से अलग समाज को देखने का दृष्टिकोण अज्ञेय ने विकसित किया था।

उपन्यास के समाजशास्त्रीय विश्लेषण की केन्द्रीय अवधारणा यथार्थवाद है। इसे मार्क्सवादी आलोचक भी अपनाते हैं। यथार्थवादी दृष्टि के अनुसार साहित्य का स्वरूप अपने सामाजिक संदर्भ से

निर्मित और प्रभावित होता है। सामाजिक जीवन को यदि साहित्यिक, दार्शनिक या कलात्मक धरातल पर व्यक्त करना हो तो यह कार्य सामूहिक चेतना के माध्यम से ही संभव है। इसके संदर्भ में इन चार धारणाओं को सामने रखा जा सकता है –

- (क) साहित्यिक रचना एक यथार्थ तथा खास सामूहिक चेतना का प्रतिबिम्ब भर नहीं है, वरन् सामंजस्य के अत्यधिक विकसित स्तर पर ऐसी प्रवृत्तियों का उच्चतम बिन्दु हैं जो एक विशेष समूह की निजी चेतना का अंग होती हैं। उस चेतना का अंग जिसकी संकल्पना ऐसे गतिशील यथार्थ के रूप में की जानी चाहिए जिसकी प्रवृत्ति एक खास तरह के संतुलन की ओर होती है।
- (ख) सामूहिक विचारधारा तथा महान साहित्यिक, दार्शनिक या धर्मशास्त्रीय कृति के बीच संबंध उनकी तद्रूपता में नहीं वरन् एक उच्चतर कोटि के सामंजस्य तथा संरचनाओं की सजातीयता में निहित है। इस सामंजस्य एवं सजातीयता को काल्पनिक विषयवस्तुओं में व्यक्त किया जा सकता है जो सामूहिक चेतना की वास्तविक विषय वस्तु से नितांत भिन्न होती है।
- (ग) एक खास सामाजिक समूह की मानसिक संरचना को व्यक्त करने वाली किसी रचना को कभी-कभी कोई ऐसा व्यक्ति व्याख्यायित कर सकता है जिसके इस समूह से संबंध प्रायः न के बराबर हो। कुल मिलाकर उस कृति का सामाजिक वैशिष्ट्य इस तथ्य में निहित है कि कोई व्यक्ति कभी स्वतः ही ऐसी सुसंगत मानसिक संरचना की स्थापना नहीं कर सकता जो 'विश्व-दृष्टि' के समतुल्य हो।
- (घ) सामूहिक चेतना न तो मूल यथार्थ है और न स्वायत्त यथार्थ। यह तो आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि जीवन के विविध पक्षों में हिस्सा लेने वाले व्यक्तियों के समग्र जीवन में व्याप्त रही हैं।⁴

इन धारणाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी चिंतन के आधार पर उपन्यास के समाजशास्त्र को देखने की दृष्टि अन्य चिन्तन धाराओं से अलग है। उपन्यासकार को सृजनकार्य करने के लिए समूह की चेतना को समझना होगा, बिना समूह की चेतना को समझे सामाजिक जीवन के प्रतिरूप को नहीं उकेरा जा सकता है।

फ्रैंकफुर्ट समुदाय के आलोचनात्मक समाजशास्त्रियों में लियो लावेंथल समाजशास्त्र की दृष्टि से उपन्यासों का विश्लेषण और मूल्यांकन करते हैं। बहुत से समाजशास्त्रियों ने संरचनावाद की पद्धति के सहारे उपन्यास का मूल्यांकन किया है। गोल्लडमान ने मार्क्सवाद और संरचनावाद के बीच एकता स्थापित करते हुए उत्पत्तिमूलक संरचनावाद के आधार पर उपन्यास के समाजशास्त्र की व्याख्या की है। अतः उपन्यास के समाजशास्त्रीय अध्ययन की जो पद्धति यूरोप में विकसित हुई, उसका प्रभाव संसार के अन्य देशों के उपन्यास के समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर पड़ा है। फ्रांस में व्यवस्थित साहित्य के समाजशास्त्र की व्याख्या मादाम स्तेल की पुस्तक 'सामाजिक संस्थाओं से साहित्य के संबंध पर विचार' (1800 ई०) से शुरू हुई। साहित्य के भौतिक आधार, सामाजिक अस्तित्व और सामाजिक संस्थाओं से क्रिया-प्रतिक्रिया पर व्यवस्थित ढंग से विचार हुआ है। मादाम स्तेल ने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है, "मैंने साहित्य पर धर्म, नैतिकता और कानून के प्रभाव तथा उन सब पर साहित्य के प्रभाव की जाँच-परख का प्रयत्न किया है।"⁵ इस प्रकार समाज से साहित्य के खोज की नई दृष्टि विकसित होती है। उपन्यास के विकास के लिए इन्होंने मध्य वर्ग को आवश्यक माना, क्योंकि ये वर्ग साहित्य एवं कला के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता और ईमानदारी जैसे गुणों को बढ़ावा देता है। सामन्ती समाज में नारी

की स्थिति अच्छी नहीं थी, इसलिए उपन्यास का विकास नहीं हो पाया था। मादाम स्तेल उपन्यास के विकास के दूसरी स्थापना के रूप में समाज में नारी की स्थिति को महत्वपूर्ण मानती है। जिन समाजों में स्त्रियों की स्थिति सम्मान जनक होगी, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध अच्छे होंगे, वहीं उपन्यास का विकास होगा। उपन्यास के चरित्र चित्रण में आत्मपरकता और दार्शनिक दृष्टि को मादाम स्तेल महत्व देती थीं। उन्होंने माना कि उपन्यास आधुनिक युग की देन है, जिसमें नई यथार्थ चेतना निहित है।

फ्रांसीसी विचारक इपोलिट अडोल्फ तेन साहित्य के विवेचन में सामाजिक संदर्भ पर जोर देते हैं। तेन लेखक के व्यक्तित्व को महत्व देते हैं और रचना में सामाजिक सत्य की खोज करते हैं। तेन साहित्य के समाजशास्त्रीय स्वरूप का निर्धारण मुख्यतः चार अवधारणाओं के आधार पर करते हैं –

साहित्य के भौतिक सामाजिक मूलाधार की खोज, लेखक के महत्व का विश्लेषण, साहित्य में समाज के प्रतिबिम्बन की व्याख्या और साहित्य का पाठक से सम्बन्ध। तेन कला और साहित्य की कृतियों को सामाजिक उत्पादन मानते हैं। तेन के अनुसार साहित्य मनुष्य के मानसिकता की उपज है। यह उपज जिन कारणों से होता है उनमें, प्रजाति, परिवेश, युग अपना योगदान देते हैं। तेन की समाजशास्त्रीय पद्धति तथ्य से चेतना की ओर बढ़ती है और चेतना से उसके निर्माण की परिस्थितियों की ओर। तेन प्रजाति की धारणा को महत्व देते हैं। प्रजाति के अन्तर्गत व्यक्ति की सहज तथा वंशानुगत विशेषताओं, मानसिक बनावट और शारीरिक संरचना की चर्चा होती है। प्रजाति की चरित्रगत विशेषताओं में जलवायु, मिट्टी और इतिहास की महान घटनाओं की उपज होती है। चरित्र की महान विशेषताएँ प्रजाति की विशिष्ट चेतना और सौंदर्यानुभूति में प्रगट होती हैं। किसी भी रचना में प्रजाति चरित्र के अनुसार ही सौंदर्य के आदर्शों का विकास होता है। संसार में मानव अकेला नहीं होता है, उसके आस पास का परिवेश हमेशा उसके साथ होता है। यहाँ परिवेश का अर्थ केवल प्राकृतिक परिवेश से नहीं बल्कि इसमें सामाजिक परिवेश भी सम्मिलित हो जाता है। मानव की आदिम प्रवृत्तियाँ तथा प्रजातिगत विशेषताएँ भौतिक-सामाजिक परिस्थितियों, घटनाओं आदि से प्रभावित होती हैं। सामाजिक परिवेश और साहित्यिक विशेषताओं के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने की बात तेन करते हैं।

हर युग के अपने कुछ प्रधान विचार होते हैं। ये प्रधान विचार पूरे समाज को प्रभावित करते हैं। युग के प्रधान विचार का प्रसार जीवन के हर क्षेत्र में होता है, व्यवहार में होता है और चिंतन में होता है। इसका प्रभाव उपन्यास के क्षेत्र में भी पड़ता है। लम्बे समय के बाद एक नया विचार पुराने विचार पर हावी होता है और समकालीन परिवेश से जुड़कर नए प्रकार के चिंतन और सृजन को प्रेरणा मिलती है। उदाहरणस्वरूप देवकीनन्दन खत्री के वैचारिक पक्ष प्रेमचन्द से भिन्न हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों का सामाजिक परिवेश राजकमल चौधरी के सामाजिक परिवेश से अलग है। ये भिन्नता के मूल में विचारों का अन्तर है। तेन ने यह माना है कि साहित्य का विकास प्रजाति परिवेश और युग के विकास पर निर्भर करता है। साहित्य के विषय में तेन के विचार समाजशास्त्रीयता के अत्यधिक निकट हैं, जिसके चलते नवीन दृष्टि और पद्धति का विकास होता है। तेन के विचारों का नकारात्मक पक्ष यह है कि इनमें आलोचनात्मक दृष्टि की कमी है।

तेन के साहित्य के समाजशास्त्र में लेखक के महत्व की पहचान की गई है। उनके संपूर्ण साहित्य-चिंतन का लक्ष्य मनुष्य को जानना है। सृजक के रूप में लेखक को विशेष महत्व देते हैं। तेन ने स्वयं कहा है कि, “कोई पुस्तक आकाश से अवतरित नहीं होती। प्रत्येक पुस्तक किसी प्राचीन खोल की तरह होती है जिस पर खोल में रहने वाले जीव-जंतु का रूपाकार अंकित होता है। जैसे खोल उस जीव की ओर संकेत करता है वैसे ही पुस्तक मनुष्य की ओर। जैसे हम खोल का अध्ययन उसमें रहने

वाले जीव को जानने के लिए करते हैं, वैसे ही साहित्य का अध्ययन मनुष्य को जानने के लिए किया जाता है। खोल और किताब दोनों निर्जीव वस्तुएँ हैं। उनका मूल्य यह है कि वे किसी जीवत अस्तित्व की ओर संकेत करती हैं। हमें उस अस्तित्व को पहचानना होता है उसे पुनर्निर्मित करना पड़ता है।¹⁶ साहित्यिक कृति में जो छिपा हुआ मनुष्य है वह लेखक है। तेन अपने समाजशास्त्रीय आलोचना में जिस लेखक को महत्त्व देते हैं, उसका साहित्यिक चिन्तन की परम्परा में आस्था है और सामाजिक संदर्भ निहित है। तेन ने नागरिक व्यक्तित्व की बात कम की है और रचनाकार व्यक्तित्व की बात ज्यादा करते हैं।

साहित्य के समाजशास्त्र के विषय में तेन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचार है कि साहित्य में समाज प्रतिबिम्बित होता है। साहित्य के अध्ययन से उसके रचनाकाल के मनुष्यों की भावनाओं के रूप, विचारों की गति और जीवन की दशाओं का बोध होता है। साहित्य में भावों का विशेष महत्त्व होता है। रचना में भावों का जितना बेहतर अभिव्यक्ति होगा, साहित्य में उसका स्थान उतना ही महत्त्वपूर्ण होगा। महान रचनाओं की समुचित व्याख्या से समाज के बारे में अच्छा ज्ञान मिल सकता है। एक महान उपन्यास से समाज के विषय में व्यापक जानकारी मिल सकती है। साहित्यिक कृतियों में समाज के असंख्य ज्ञानवर्द्धक पहलू संकलित होते हैं, इसलिए वे पाठक को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। उपन्यास का समाजशास्त्र महान साहित्य का समाजशास्त्र है, जिसमें साहित्य की सामाजिकता कृति की साहित्यिक श्रेष्ठता पर निर्भर है। अतः तेन ने कला और साहित्य के अध्ययन के लिए सामाजिक संदर्भ को विकसित किया।

लियोलावेंथल साहित्य के समाजशास्त्र में साहित्य की सामाजिकता का विश्लेषण करते हैं। साहित्य में सामाजिकता को विशिष्ट महत्त्व देते हैं। सामाजिक स्वरूप को स्पष्ट करना साहित्य का लक्ष्य होता है। लावेंथल मानते हैं कि साहित्य वैयक्तिक अनुभवों का ऐतिहासिक भण्डार है। उसमें प्रेम और प्रकृति की नितांत निजी अनुभूतियाँ होती हैं, लेकिन वे भी सामाजिक संदर्भ से प्रभावित रहती हैं। यही कलात्मक कल्पना की विशिष्टता है। श्रेष्ठ साहित्य वह है जिसमें सामाजिक ऐतिहासिक अनुभवों की गहरी अभिव्यक्ति होती है। साहित्य यह बताने में सक्षम होता है कि वर्णित युग का जीवन कैसा था? उपन्यास में यथार्थ-चित्रण से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, ऐतिहासिक सामाजिक रूप से सामाजिक चेतना का चित्रण। उपन्यास में मानवजीवन की दशाओं की अन्तर्दृष्टि देने की क्षमता विकसित होती है। उपन्यास का विकास पूँजीवादी समाज में होता है और पूँजीवादी समाज में वही कला महत्त्वपूर्ण होती है जिसमें विरोध का स्वर मुखर होता है। वास्तव में, पूँजीवाद समाज सामाजिक समानता का विरोध करता है, वह कला कला के लिए में विश्वास करता है। जब तक कला और साहित्य समाज के लिए नहीं होगा तब तक समाज का वास्तविक चित्र उपन्यास में प्रतिबिम्बित नहीं हो सकता है। 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त को मानने वाली कला, वर्गों से परे रहनेवाली कला तथा राजनीति के समानान्तर चलने या उससे स्वतंत्र रहनेवाली कला नाम की कोई चीज़ नहीं होती। सर्वहारा वर्ग की कला और साहित्य सर्वहारा के समूचे क्रांतिकारी कार्य के अंग हैं, लेनिन के शब्दों में ये समूची क्रांतिकारी मशीन के 'दाँते और पेंच' के समान हैं।¹⁷

लावेंथल साहित्य के समाजशास्त्र में मनोविज्ञान को आवश्यक मानते हैं। सामूहिक चेतना और व्यक्ति चेतना के बीच सम्बन्ध की पहचान मनोविज्ञान से ही सम्भव है। इसलिए मनोविज्ञान को साहित्य के समाजशास्त्र का एक प्रमुख अंग मानते हैं। लावेंथल साहित्य में यथार्थवाद के समर्थक हैं। साहित्यिक कृतियों में सामाजिक चेतना दो रूपों में व्यक्त होती है जबकि कुछ रचनाओं में अनेक प्रकार की चेतनाओं का द्वन्द्व होता है। ऐसी रचनाओं में सामाजिक यथार्थ की विविधता के साथ चेतनाओं की

अनेकता जुड़ी होती है। सामाजिक चेतना का दूसरा रूप वह है जहाँ एक ही चेतना पूरी रचना संसार में व्याप्त होती है। वैसी रचनाओं में एक सामाजिक दृष्टिकोण से रचना की अर्थवत्ता निर्धारित होती है। लावेंथल भौतिकवादी दृष्टि से साहित्य का विश्लेषण चेतना सामाजिक यथार्थ को रहस्य से ढक लेती है, एक भ्रम उत्पन्न करती है, जिससे पूँजीवाद समाज के अंतर्विरोधों को समझना कठिन हो जाता है। सामाजिक अंतर्विरोधों और वास्तविकताओं पर से रहस्य के पर्दे को हटाना रचना में व्यक्त सामाजिक चेतना का लक्ष्य होना चाहिए। उपन्यास में व्यक्त रूप और अंतर्वस्तु को लावेंथल एक नहीं समझते हैं। अंतर्वस्तु का विश्लेषण व्यापकता से करते हैं लेकिन रूप की उपेक्षा नहीं करते हैं। रूप की तुलना में भाषा और शैली का महत्त्व देते हैं। लावेंथल यह मानते हैं कि साहित्य के रूपों के विकास की प्रक्रिया सामाजिक विकास से प्रभावित होती है। उपन्यास का विकास सामाजिक जीवन के विकास से जोड़ कर देखते हैं। समाज में व्यक्ति की दशा और नियति है, उपन्यास में इन दोनों का चित्रण सामाजिक संदर्भ में होता है। उपन्यास के इतिहास को व्यक्ति की धारणा के इतिहास से जोड़ते हैं और मानते हैं कि “हमारे समाज का इतिहास एक मेहराब की तरह लगता है जिसके आरम्भ में आधुनिक व्यक्तिवाद की उर्ध्वगामी रेखा है बीच में व्यक्ति के आत्मविश्वास का सुदृढ़ प्रसार है और अंत में तकनीकी तथा सामाजिक शक्तियों से आक्रांत व्यक्ति की दयनीय दशा की ओर संकेत करती रेखा की ढलान है। व्यक्तिवाद के इस इतिहास से आधुनिक युग में उपन्यास का विकास और उसमें व्यक्ति तथा व्यक्तिवाद की बदलती स्थितियों का इतिहास जुड़ा हुआ है।”⁸

लोकप्रिय साहित्य मध्यवर्ग का साहित्य है क्योंकि वहीं उसका मुख्य उत्पादक और उपभोक्ता है। आधुनिक समाज में संस्कृति को जानने की कुंजी साहित्य है और साहित्य को समझने की कुंजी मध्यवर्ग की मानसिकता की जानकारी है। साहित्य मूलतः जनता के लिए होना चाहिए, साहित्य का रूप ही केवल जनता के लिए हो, ऐसी बात नहीं है अंतर्वस्तु भी जनोन्मुख होता है। लावेंथल के विचार से साहित्य का क्षेत्र व्यापक हुआ और उसमें विविधता आई है। तेन के बाद और गोल्डमान के पहले काल के लावेंथल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साहित्य के समाजशास्त्री हैं। उनके चिंतन की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें साहित्य के इतिहास और समाजशास्त्र की एकता है, जो तेन के यहाँ नहीं मिलती है।

लूसिए गोल्डमान साहित्य के समाजशास्त्र की बुनियादी मान्यताओं को मानते हैं। पुरानी मान्यताओं को नये अंदाज में व्यक्त करते हैं। गोल्डमान की मान्यताओं के मुख्यतः तीन स्रोत हैं—जार्ज लुकाच का आरम्भिक चिंतन, पिजे का मनोविज्ञान और संरचनावाद। गोल्डमान जार्ज लुकाच के चिंतन से समग्रता, विश्वदृष्टि, रूप, परावैयक्तिक चेतना, संभावित चेतना और वस्तुपरक संभावना आदि धारणा को लेते हैं। पिजे के चिंतन से इन्होंने सार्थक संरचना, प्रकार्य, संरचनाओं के विकास और हास की प्रक्रिया, चेतना और वस्तु के बीच सम्बन्ध तथा संतुलन आदि धारणाओं को अपनाया है। गोल्डमान की समानधर्मिता की धारणा पर संरचनावाद का प्रभाव है। विश्वदृष्टि की धारणा को साहित्य के समाजशास्त्र की बुनियाद मानते हैं। विश्वदृष्टि के स्वरूप को केवल या वर्ग के संदर्भ में ही समझा जा सकता है, व्यक्ति के नहीं। विश्वदृष्टि एक निश्चित काल खण्ड में एक वर्ग के विचार, अनुभूति और व्यवहार की समग्रता में प्रकट होती है। विश्वदृष्टि का विकास होता है, उसकी सर्जना नहीं होती। उसके विकास के लिए जीवन संघर्ष और आन्दोलन की जरूरत होती है। गोल्डमान यह मानते हैं कि विश्वदृष्टि सामाजिक वर्ग के जीवन में निहित होती है लेकिन वह दर्शन, कला और साहित्य में व्यक्त होती है। इसी कारण से विश्वदृष्टि की खोज का आरम्भ कृति के अध्ययन से होता है न कि वर्ग के अध्ययन से। वे मानते

हैं कि विश्वदृष्टि सामाजिक वर्ग की ऐतिहासिकता से सम्बद्ध है। गोल्डमान के समाजशास्त्र का लक्ष्य है कृति की आंतरिक एकता में उसकी विश्वदृष्टि की खोज और उस विश्वदृष्टि से मूलभूत सामाजिक समूह की विश्वदृष्टि के संबंध का विवेचन।

गोल्डमान विश्वदृष्टि और समानधर्मिता के प्रसंग में बार-बार सुसंगति की चर्चा करते हैं और उसकी कसौटी पर साहित्यिक कृतियों को कसते हैं। महान रचनाओं में अधिक संरचनात्मक सुसंगति होती है इसलिए इन्हें समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए चयनित किया जाना चाहिए। सामाजिक संरचना की अवधारणा में व्यक्तियों के विशिष्ट गुण महत्वहीन होते हैं। इसमें केवल उन्हीं बातों को महत्व दिया जाता है जो कि अपरिवर्तनीय होती हैं। उनके प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर ऐसे संरचना को अमूर्त रूप में लिया जाता है। संरचनात्मक सम्बन्ध सतह पर प्रत्यक्ष नहीं होते। सामाजिक अन्तःक्रियाओं में उनको एकदम पहचानना कठिन होता है। उदाहरण स्वरूप—यदि यह जानने का प्रयास किया जाए कि एक कारखाना से दूसरे कारखाने का उत्पादन अधिक क्यों होता है तो हम उस कारखाने में व्यक्तियों के बीच होने वाले सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन कर सकते हैं। इन सामाजिक सम्बन्धों के नीचे एक संरचना होती है। यह संरचना उस कारखाने की कार्य के संगठन करने की विधि से जुड़ी हुई है अर्थात् कारखाने की संरचना का एक स्वरूप सामाजिक सम्बन्धों से मुक्त है। काम किस तरह से कारखाने में व्यवस्थित किया गया है यह संगठन का स्वरूप है। मेयहू (Mayhew) ने कहा है कि, “संरचनात्मक समाजशास्त्री मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन करते ही नहीं।”⁹ एक व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध उसकी प्रस्थिति के आधार पर निर्मित होते हैं। व्यक्तियों को सामाजिक सम्बन्ध निर्माण करने की स्वतंत्रता भी संरचनात्मक विकल्पों के आधार पर प्राप्त होती है। अतः संरचना का अर्थ सामाजिक संगठन से भी है। साहित्यिक कृतियों में गोल्डमान इसी संरचना के अध्ययन पर जोर देते हैं। किसी वर्ग की विश्वदृष्टि की संरचनाओं से कृति के भीतर रचित संसार की संरचनाओं की समानधर्मिता होती है। समाजशास्त्री इसी समानधर्मिता की खोज करता है। समाज या वर्ग के जीवन से रचना का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अनुभववादी और आलोचनात्मक समाजशास्त्री साहित्य के समाजशास्त्र का विश्लेषण करते थे। अनुभववादी कृति की अंतर्वस्तु का विवेचन करते थे और आलोचनात्मक समाजशास्त्री कृति के भीतरी संसार की अंतर्दामी मीमांसा। कृति के आंतरिकता का बोध और इतिहास प्रक्रिया से उसके संबंध की व्याख्या पर विशेष जोर गोल्डमान ने दिया था। गोल्डमान ने माना है कि उपन्यास के समाजशास्त्रीय कला की दृष्टि से वे रचनाएँ कमजोर हैं जिनमें मानवीय यथार्थ की शक्ति और संभावनाओं की सजगता की कमी है।

रेमंड विलियम्स के चिंतन और लेखन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। जर्मन भाषा में जो महत्व लुकाज का है, फ्रांसीसी में सार्त्र का वही महत्व, अंग्रेजी में रेमंड विलियम्स का है। रेमंड विलियम्स निरन्तर साहित्य की अवधारणा को बदलते रहे हैं। प्रारम्भ में वे साहित्य को मानवीय अनुभव का दस्तावेज मानते थे। बाद में, साहित्य के दस्तावेज के साथ-साथ मानवीय प्रतिक्रिया भी मानने लगे। अंग्रेजी उपन्यास में, वे साहित्य को मूल्यों का नाट्यीकरण कहते हैं। रेमंड विलियम्स कला और समाज के बीच संबंधों की अनेकता, विविधता और जटिलता पर जोर देते हैं। वे मानते हैं कि कला अनुभव के माध्यम से समाज और उसकी वास्तविकता को व्यक्त करती है। साहित्य के क्षेत्र में इनकी विशिष्ट धारणा अनुभूति की संरचना है। अब साहित्य के समाजशास्त्र को व्यक्त करने वाली केन्द्रीय अवधारणा है। ‘अनुभूति की संरचना’ अवधारणा का उपयोग ‘संस्कृति और समाज’ नामक पुस्तक में हुआ है। परन्तु इससे भी विस्तृत व्याख्या ‘लम्बी क्रांति’ में करते हैं। उनके अनुसार, “संरचना से जहाँ सुनिश्चित रूप

का बोध होता है वहीं अनुभूति कला के अनुभव पक्ष की ओर संकेत करती है। एक तरह से अनुभूति की इस संरचना को एक काल की संस्कृति भी कहा जा सकता है। चूँकि कला में ही अनुभूति की संरचना पायी जाती है इसलिए किसी काल के समाज को जानने में कला का महत्त्व बढ़ जाता है।¹⁰ अनुभूति की संरचना के माध्यम से संस्कृति के भीतर के वास्तविक संबंध प्रकट होते हैं। रेमंड विलियम्स अपने साहित्य के समाजशास्त्रीय आलोचना में अनुभूति को, समुदाय को और दूसरी पीढ़ी को अधिक महत्त्व देते हैं, जिसकी बड़ी आलोचना हुई।

रेमंड विलियम्स अनुभूति की संरचना के सहारे रचना के वैयक्तिक, जीवंत और आत्मपरक पक्षों की ओर संकेत करते हैं। रेमंड विलियम्स ने अपनी अनुभूति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि “अनुभूति पर जोर देने का आशय है उसे विश्वदृष्टि अथवा विचारधारा से अलगाना। हमारा आशय ऐसे मूल्यों और अर्थों से है जो वास्तविक जिन्दगी के अनुभव के अंग हैं और विचारधारा से उनका संबंध बदलता रहता है। उन्होंने यह भी कहा है कि अगर अनुभूति की संरचना का कोई और नाम देना जरूरी हो तो उसे अनुभव की संरचना कहा जा सकता है। लेकिन इस नए नाम में कठिनाई यह है कि अनुभूति के माध्यम से वर्तमानता की ओर जो संकेत होता है वह अनुभव से संभव नहीं है। वर्तमानता के बोध के साथ-साथ अनुभूति की संरचना से अनुभव की प्रक्रिया की ओर भी संकेत होता है।¹¹ अनुभूति की संरचना की अवधारणा का व्यावहारिक रूप उनके उपन्यास के समाजशास्त्रीय विश्लेषण में मिलता है। रेमंड विलियम्स अनुभूति की संरचना के सहारे रचना के वैयक्तिक, जीवंत और आत्मपरक पक्षों की ओर संकेत करते हैं। किसी रचना में अनुभव और अनुभूति के स्तर पर ही वैयक्तिकता अधिक प्रकट होती है, विचार के स्तर पर नहीं। इसी कारण से रेमंड विलियम्स विचार से अधिक अनुभूति की बात करते हैं। ये रचना में व्यक्त अनुभूति की संरचना से ही सामाजिक जीवन में मौजूद अनुभूति की संरचनाओं को पहचानने की कोशिश करते हैं।

उपन्यास के विश्लेषण में अनुभूति की संरचना के अतिरिक्त यथार्थवाद का उपयोग भी करते हैं। ‘लम्बी क्रांति’ नामक पुस्तक में लिखा है कि “जब मैं उपन्यास की यथार्थवादी परम्परा के बारे में बात करता हूँ तो मेरा आशय उन उपन्यासों से होता है जिनमें व्यक्तियों के गुणों के माध्यम से समाज के जीवन की समग्र पद्धति के गुणों और विशेषताओं का सृजन और मूल्यांकन होता है। ‘वार एण्ड पीस’, ‘मिडिल मार्च’ और ‘दी रैनबो’ जैसे उपन्यासों में यह विशेषता मिलती है।¹² रेमंड विलियम्स का यथार्थवाद मार्क्सवाद से भिन्न है क्योंकि ये समाज और व्यक्ति को एक समान महत्त्व देते हैं। इन्होंने चरित्र को व्यक्ति और प्रतिनिधि के रूप में बाँटकर देखने का खण्डन किया है। यथार्थवादी परम्परा के उपन्यासों को दो वर्गों में बाँटते हैं—सामाजिक उपन्यास और व्यक्तिगत उपन्यास। पुनः सामाजिक उपन्यास को दो वर्गों में बाँटते हैं दस्तावेजी सामाजिक उपन्यास और विचारधाराबद्ध उपन्यास। यथार्थवादी उपन्यासों में समाज की व्यापकता मिलती है। यथार्थवादी उपन्यास के लिए एक सच्चा समुदाय चाहिए। समुदाय का अर्थ सामूहिक समूह से है। ऐसा मानव समूह जिसमें मानव आपस में केवल काम या मित्रता या परिवार आदि के माध्यम से न जुड़े बल्कि उसमें अनेक स्तरों का संबंध हो। सामाजिक अनुभवों की अभिव्यक्ति बेहतर उपन्यास की विशेषता है। टेरी इग्लटन ने लिखा है कि, “उपन्यास ऐसा साहित्य रूप है जिसके माध्यम से मनुष्य अभिव्यक्ति के नये रूपों और भाषा की नयी भंगिमाओं के सहारे नये अनुभवों की पहचान करता है और मानवीय संबंधों तथा भावनाओं की दुनिया में सामाजिक परिवर्तनों की पुनर्रचना करते हुए उन पर विजय पाना चाहता है।¹³”

रेमंड विलियम्स किसानों, मजदूरों से जुड़े हुए उपन्यासों को श्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि समाज

के बड़े हिस्से का ये अंग होते हैं। जिन उपन्यासों में इस वर्ग का चित्रण होता है, उसे अपनी आलोचना में विस्तार देते हैं। मजदूर वर्ग से जुड़े उपन्यासों में एक तो अंतर्वर्गीय संबंधों का चित्रण करते हैं और दूसरे जीवन की समस्याओं के सरल समाधान की जगह उनकी जटिलता के बोध की माँग करते हैं। ये उपन्यास के भाषा और शिल्प पर ध्यान नहीं देते हैं। उपन्यास की भाषा को शिक्षित समुदाय की भाषा, साहित्य की भाषा और बोलचाल की भाषा से जोड़कर देखते हैं।

उपन्यास समाज को प्रतिबिम्बित करता है वे प्रत्यक्ष नहीं होते, सोद्देश्य होते हैं। लूकाच का कहना है कि वस्तुवादी चित्रण सामाजिक विकास के प्रति लेखक के रवैये पर निर्भर करता है। समाज का उसके द्वारा प्रस्तुत चित्र तभी वस्तुपरक होगा जब वह सामाग्री का ठीक चुनाव करेगा। लूकाच के उपन्यास सिद्धान्त का सार है कि, “उपन्यास अंतर्मुखता के अभियान की कहानी है, उपन्यास का कथ्य उस आत्मा की कहानी है जो स्वयं को पहचानने का प्रयत्न करती है, जो साहसिक अभियानों की तलाश करती है ताकि अपनी शक्ति की परीक्षा कर सके और कसौटी पर खरी उतरकर अपना सार प्राप्त कर सके।”¹⁴ उपन्यास में समाज के विविध रूप प्रकट होते हैं परन्तु समाज से सीधे रू-ब-रू नहीं होते। उपन्यास का उदय यथार्थ के प्रति जिज्ञासा और उसकी जाँच-पड़ताल से होता है, उस यथार्थ की जाँच-पड़ताल से जो विशिष्ट सामाजिक समूहों में रहने वाले विशिष्ट व्यक्तियों को अपने समय की महत्वपूर्ण मानवीय, सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं के प्रति जटिल अनुक्रिया है।

बाख्तिन के अनुसार, उपन्यास की केन्द्रीय विशेषता है उसकी संवादधर्मिता। उन्होंने लिखा है कि “उपन्यास में सामाजिक वाणी की विविधता और व्यक्तिक स्वरों की विविधता का कलात्मक गठन होता है। उसमें किसी जातीय भाषा की बोलियों, पेशा सम्बन्धी मुहावरों, साहित्यिक पदावलियों और पीढ़ियों की जबान का विशिष्ट संयोजन होता है, जिससे रचना की ऐतिहासिकता निर्मित होती है। उपन्यास में कोई स्वर अनुत्तरित नहीं रहता, उसमें कुछ भी अन्तिम सत्य या अन्तिम कथन नहीं होता। उपन्यास के रूप का खुलापन, विरुद्धों के सामंजस्य की उसकी शक्ति और उसकी बहुभाषिकता के विश्लेषण से उपन्यास की ऐतिहासिकता और सामाजिकता का बोध हो सकता है। स्वरों की अभिव्यक्ति के लिए ही उपन्यासकार वस्तु या यथार्थ का सहारा लेता है।”¹⁴ यथार्थ के माध्यम से ही समाज का चित्रण उपन्यास में होता है।

समाज को समझने के लिए साहित्य का उपयोग किया जाये या साहित्य को समझने के लिए समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाया जाए, ये दोनों धारणाएँ साहित्य के समाजशास्त्र के विवेचन में काम करती हैं। शुद्ध समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण वालों के लिए अच्छी-बुरी, सतही और गम्भीर साहित्यिक कृतियों में कोई फर्क नहीं होता। साहित्य की साहित्यिकता को समझने के लिए, उसमें सामाजिकता की खोज करने के लिए साहित्य के ज्ञानात्मक पक्ष का विवेचन किया जाता है। मीमांसावादी समाजशास्त्री साहित्य के ज्ञानात्मक पक्ष को स्वीकार करते हैं। ये केवल महत्वपूर्ण और महान रचनाओं के समाजशास्त्रीय अध्ययन को महत्व देते हैं। इनके अध्ययन के विवेचन में रचनाओं के युगीन वास्तविकताओं और आकांक्षाओं की जटिल समग्रता का गहरा बोध होता है। साहित्यिक समाजशास्त्रीय यह मानते हैं कि किसी रचना की अंतर्वस्तु में ही केवल समाज नहीं व्यक्त होता। बल्कि रचना के अंतर्वस्तु, रचना शिल्प और भाषा में भी समाज की अभिव्यक्ति होती है। रचना में सामाजिक विशेषता को हर समाजशास्त्रीय के अपने-अपने नज़रिये से देखा है। लावेंथल ने अर्थ के मर्म के विवेचन पर बल दिया तो गोल्डमान ने ‘विश्वदृष्टि’ के विश्लेषण पर। अडोर्नो ‘अंतर्वस्तु के सत्य’ का बोध आवश्यक मानते हैं, तो रेमंड विलियम्स ‘अनुभूति की संरचना’ की पहचान को। जो मार्क्सवादी साहित्य को रचना

का विशिष्ट रूप मानते हैं वे विचारधारा के रूप में उसका विश्लेषण करते हुए साहित्य में समाज की खोज करते हैं।

साहित्य का संबंध समाज से स्थापित करते हुए साहित्य में अस्मिता की खोज को स्वीकार किया गया है। समाज से रचना का संबंध एक जटिल प्रक्रिया है। अर्नाल्ड हाउजेर ने समाज से कला और साहित्य का संबंध जोड़ते हुए समय सादृश्य का सहारा लेने के बारे में सावधान करते हुए लिखते हैं कि “सांस्कृतिक संरचनाओं की समाजशास्त्रीय व्याख्या के दौरान सादृश्य की खोज से ज़्यादा आसान लेकिन खतरनाक कोई और बात नहीं होती। किसी काल की कला की विभिन्न शैलियों से उस काल की प्रमुख सामाजिक संरचनाओं का संबंध जोड़ लेना आसान है। ऐसे संबंध प्रायः रूपकों के सहारे कायम किये जाते हैं।”¹⁵ समाज से साहित्य का खोज करते समय सादृश्य का सहारा लेना खतरनाक है लेकिन मजबूरी भी है।

समाजशास्त्र के विधेयवादी समाजशास्त्री साहित्य को समाज का दर्पण कहते हैं। ऐसे में वे सादृश्य का ही सहारा लेते हैं। वे समाज से साहित्य का बिम्ब-प्रतिबिम्ब संबंध स्थापित करते हैं। मार्क्सवादी भी प्रतिबिम्बन सिद्धान्त का उपयोग करते हैं, लेकिन वे द्वंद्वात्मकता की मदद से उसकी प्रक्रिया की जटिलता की व्याख्या करते हैं। मिशेरी ने समाज से साहित्य की अवधारणा के संबंध की व्याख्या के लिए सम्पर्क की धारणा प्रस्तुत की है जिसमें समाज से साहित्य की घनिष्ठता और दूरी दोनों की अभिव्यक्ति होती है। साहित्य में समाज की खोज की एक दिशा कल्पना का क्रिया व्यापार है। जीवन-जगत के बोध, यथार्थ की चेतना, चरित्रों के निर्माण, भावों विचारों की व्यंजना के तरीकों की खोज और रूपशिल्प आदि के आविष्कार से लेकर भाषा की भंगिमाओं का विकास तक सब कुछ कल्पना की मदद से ही होता है। मिल्स के अनुसार समाजशास्त्रीय कल्पना मानस की ऐसी शक्ति है जो नितान्त निवैयक्तिक और दूरस्थ परिवर्तनों से लेकर मानव मन की अत्यन्त वैयक्तिक विशेषताओं तक पहुँचती है और दोनों के बीच के सम्बन्ध को पहचानती है। जिन उपन्यासों में मानवीय यथार्थ का व्यापक बोध है उनके रचनाकारों में यह कल्पना सबसे अधिक मिलती है। रचनाकार की कल्पना की अन्तर्दृष्टि ही समाज की समझ का पर्याय है।

निष्कर्षतः उपन्यास में सामाजिक जीवन की व्याख्या की विभिन्न पद्धतियाँ हैं। ये पद्धतियाँ उपन्यास में सामाजिक जीवन के चित्रण के आलोचनात्मक दृष्टि का विकास करती हैं। रचनाकार अपनी रचना में ऐतिहासिक सादृश्य के अनुरूप समाज का चित्रण करता है, पात्रों को सामाजिक परिदृश्य के अनुकूल गढ़ता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उपन्यास रचना का लक्ष्य समय, समाज और इतिहास की प्रक्रिया से परिभाषित मनुष्य है।

संदर्भ :

1. आर० होगार्ट, 'लिटरेचर एण्ड सोसाइटी' ए गाइड टू द सोशल साइंसेज, एन० मेकेंजी, लंदन, वीडनफेल्ड एण्ड निकलसन, 1906।
2. डब्ल्यू०जे० हार्वे, 'कैरेक्टर एण्ड द नोवेल', पृष्ठ-241।
3. मिशेल जेराफ, 'फिक्शन', पृष्ठ-9
4. जैन निर्मला, 'साहित्य का समाजशास्त्रीय चिन्तन, पृष्ठ 72-73
5. रॉबर्ट एस्कार्पेट, सोशियोलॉजी ऑफ लिटरेचर, पृष्ठ-3
6. तेन, 'ट्वेंटीथ सेंचुरी क्रिटिसिज्म' पृष्ठ-310
7. वी० आई० लेनिन, 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य', में कहा है : साहित्य को सर्वहारा वर्ग के आम कार्य

का एक अंग बन जाना चाहिए, एक अखंड और महान सामाजिक-जनवादी तन्त्र के 'दाँते और पेंच' जैसा बन जाना चाहिए, जिसका संचालन समूचे मजदूर वर्ग राजनीति दृष्टि से जागरूक हिरावल दस्ता करता है ।

8. लावेंथल, 'साहित्य और मनुष्य की परिकल्पना' से साभार ।
9. बी० मेयहू, 'स्ट्रक्चरलिज्म वेरियस इंडीभिजुअलिज्म, पार्ट-1, पृष्ठ 335-57
10. रायमंड विलियम्स, 'दि लाँग रिवोल्यूशन', पृष्ठ-64 ।
11. रायमंड विलियम्स, 'मार्क्सिज्म एण्ड लिटरेचर', पृष्ठ 132-133 ।
12. रायमंड विलियम्स, 'दि लाँग रिवोल्यूशन', पृष्ठ-304 ।
13. टेरी इग्लटन, 'क्रिटिसिज्म एण्ड आइडियोलॉजी', पृष्ठ-34 ।
14. जॉर्ज लूकाच, 'द थ्योरी ऑफ द नोवेल', 1971, पृष्ठ-89
15. मैनेजर पाण्डे, 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', पृष्ठ-249 ।
16. अर्नोल्ड हाउजेर, 'द सोशल हिस्ट्री ऑफ आर्ट', 1951, पृष्ठ-21 ।



विद्यापति की सौंदर्य चेतना : सांस्थानिक मूल्य और स्वतंत्रता का अंतर्द्वंद्व

– मधुप कुमार

विद्यापति की सौंदर्य-चेतना उनके 'वैयक्तिक अनुभवों के विस्तार' से निकल कर सामने आती है। वे सौंदर्य के कवि हैं। नारी सौंदर्य उनके काव्य की विषय-वस्तु है। उन्होंने नारी-सौंदर्य पर ऐन्द्रिक और मांसल काव्य लिखा है। उनके काव्य में वर्णित अन्य सभी वस्तुएँ, मिसाल के तौर पर प्रकृति, एक उद्दीपन की तरह से आती है। सवाल है कि जिस सौंदर्य का वे चित्रण करते हैं, और जिस तरह से करते हैं, उसके पीछे कौन सा 'व्यक्ति' छिपा हुआ है, वे किन 'वैयक्तिक-अनुभवों' का विस्तार करते हैं? और जिस 'व्यक्ति' में वे सौंदर्य खोजते हैं 'वह' कौन है ? 'विद्यापति की सौंदर्य-चेतना का मर्म जानने के लिए हमें यह जानना पड़ेगा कि इस सौंदर्य में विद्यापति कहाँ छिपे हैं, विद्यापति का मूल द्वंद्व क्या है?

विद्यापति की कविता आत्मपरक कविता है। वे सौंदर्य को अपनी आँखों से देखते हैं और इस 'चाक्षुष अनुभव' में वे पूरी तरह से ऐन्द्रिक होकर सामने आते हैं। दूसरे शब्दों में, वे सौंदर्य का ऐन्द्रिक अनुभव करते हैं। उनकी कविताएँ पढ़कर सबसे पहली चीज जो महसूस होती है, वह है – उनके 'अनुभव का घनत्व'। यह घनत्व पूरी तरह से वैयक्तिक है, आत्मानुभवाश्रित ! यह विद्यापति की विशिष्टता है कि एक ओर वे परंपरागत काव्य उपमानों, रूढ़ियों का प्रयोग कर रहे हैं तो दूसरी ओर उनके अनुभवों का 'वजन' उन रूढ़ियों के आड़े आ जा रहा है। एक यही बात उनको परंपरा से अलग खड़ा कर देती है। अनुभवों का यह 'रिचनेस' विद्यापति में जितना मुखर है और जिस हद तक यह उनके काव्य की रूढ़िबद्धता का शमन करती है, अत्यंत दुर्लभ है। परंपरागत विषयवस्तु, परंपरागत भाषिक-रूढ़ियाँ और साथ में अनुभवजन्य भाव संपन्नता ! उनका काव्य अपने युग के 'साँचे' को तोड़कर बाहर आता है और यह सब कुछ तब, जबकि वे 'परबस'-पराधीन, दरबारी कवि हैं। देखने की बात यह नहीं है कि विद्यापति दरबारी हैं अथवा नहीं; खास बात यह है कि 'पराधीनता' की कविता भी पराधीन होती है। लेकिन विद्यापति की कविता पराधीन नहीं है – "परबस जन होउ हमर पिआर"।

विद्यापति सौंदर्य की मुक्ति चेतना की तलाश के कवि हैं। एक के बाद एक, वे राधा के सौंदर्य पर पद लिखते चले जाते हैं; पर उनकी तलाश पूरी होती नहीं जान पड़ती। उनके काव्य के अंतर्साक्ष्य से स्पष्ट है कि अपने काव्य की ही तरह जीवन में भी वे मांसल, ऐन्द्रिक सौंदर्य के भोक्ता रहे।

'संस्थाओं' की अपरिहार्यता के पक्षधरों का अंतर्निहित तर्क यह होता है कि "मनुष्य स्वतंत्र नहीं छोड़ा जा सकता"। आज तक की समूची संस्थाओं के अस्तित्व के पीछे एक यही तर्क काम करता चला आया है कि मनुष्य को अगर स्वतंत्र छोड़ दिया जाए तो वह कुछ अजीबों गरीब हरकतें करने लगेगा, जिस किसी को भी काटने दौड़ेगा या फिर हर एक स्त्री के साथ सोने की कोशिश करेगा। मनुष्य की

स्वतंत्रता को 'समाज-विरोधी' करार देने का यह तर्क इस मान्यता पर विश्वास रखता है कि "मनुष्य वास्तव में बुरा होता है" - कि अगर उसे स्वतंत्र छोड़ दिया गया, उस पर संस्थाओं का अंकुश नहीं लगाया गया, तो वह 'अनार्किस्ट' हो जाएगा। इतिहास में जब भी संस्थाओं की अनिवार्यता पर बल देने का प्रयत्न किया गया है, साथ ही यह भी बता दिया गया है कि मनुष्य वास्तव में बुरा है और उसे स्वतंत्र नहीं छोड़ा जा सकता। संस्थाओं की अपरिहार्यता के सवाल से थोड़ा हटकर हम इस पर विचार करें कि 'व्यक्ति अच्छा है या बुरा'; और वह भी औरत-मर्द संबंधों के विशेष संदर्भ में, तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि 'मूल रूप से कोई भी व्यक्ति बुरा नहीं है'। वे संस्थाएँ हैं जो छिपे साझी एवं वर्ग-हितों का पोषण करती हैं और व्यक्ति के मौलिक अधिकार पर अंकुश लगाती हैं। किसी भी व्यक्ति को मूलतः स्त्रियों के साथ विस्तर बदलने की आवश्यकता नहीं होती। यदि कोई व्यक्ति अनेक स्त्रियों के साथ रंगरेलियाँ मनाता है तो इसका अर्थ यही है कि उसे किसी एक स्त्री से संतुष्टि नहीं मिल पा रही और यह कि "एक स्त्री" से संतुष्टि मिले, इसके लिए पर्याप्त अवसर उसे नहीं मिल पा रहा। यानी कोई अंकुश है जो उसे 'उसकी एक औरत' की तलाश में बाधा पहुँचा रहा है। क्योंकि, यदि किसी एक स्त्री में संतुष्टि मिले तो कोई व्यक्ति स्वभवतः अपने व्यक्तित्व को विखंडित नहीं करना चाहेगा। अनेक स्त्रियों में संतुष्टि ढूँढ़ने का यही अर्थ है कि चुनाव के अवसरों का अभाव है। यदि चुनाव के अवसर हैं, और एक सही चुनाव से संतुष्टि मिल रही है तो मूलतः कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को 'डिसइंटीग्रेट' करने के लिए अनेक स्त्रियाँ नहीं बदलेगा।

विद्यापति के संदर्भ में यह भूमिका इसलिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि वे 'स्त्री-पुरुष' के लौकिक 'प्रेम' के कवि हैं। वे प्रेम को इसी जीवन में तलाशते हैं, यहाँ तक कि पराभौतिक प्रतीकों, यानी कृष्ण और राधा की आध्यात्मिक द्वयी को भी वे इस ठोस जगत के भीतर उतार लाते हैं। वे ठोस शरीर के कवि हैं और शरीर का सच जानते हैं। उन्हें ईश्वर के उस रूप से इंकार है, जिसमें 'अलौकिक प्रेम' का तानाबाना बुने जाने की संभावनाएँ मिलती हों। विद्यापति ने जिस आत्मानुभव को अपनी कविताओं में व्यंजना दी है, वह 'अनुभव' भले ही ठोस रहा हो; अपने अंत में वह एक "डिसइंटीग्रेटेड" व्यक्तित्व का अनुभव है। उनकी तलाश, जो इसी दुनिया की है, अंत तक पूरी नहीं होती। उनके जीवन की अंतिम कविताओं का विखंडित व्यक्तित्व यही बताता है कि जिस लौकिक, ठोस, ऐन्द्रिक सौंदर्य को वे जीवनभर खोजा किए, और अकुंठ भाव से खोजा किए, उसे समाज की 'संस्थागत मान्यता' नहीं मिल सकी। उनकी निराशा एक ऐसी व्यक्ति की निराशा है जो अपनी जीवन भर की तलाश को 'सामाजिक स्वीकृति' नहीं दिलवा सका, और क्यों नहीं दिलवा सका ? क्योंकि उन्हें एक स्त्री से संतुष्टि नहीं मिल सकी। क्यों नहीं मिल सकी ? क्योंकि इसके लिए पर्याप्त अवसर नहीं थे। क्यों नहीं थे, आखिर विद्यापति तो अभिजात, कुलीन ब्राह्मण थे ? इसलिए क्योंकि उनके समय के समाज में 'चुनाव' की स्वतंत्रता खास कर ऐसे व्यक्ति के लिए तो और भी नहीं थी, जो कुलीन तथा ब्राह्मण हो। कहना न होगा कि विद्यापति औरत को प्राप्त कर सकते थे, और यही उन्होंने किया भी होगा; किंतु प्राप्त कर सकने की उनकी स्वतंत्रता अर्द्धसत्य थी। नारी-पुरुष प्रेम संबंधों में चुनाव का पूर्ण सत्य यह है कि औरत को भी स्वतंत्र होना चाहिए। उसे भी 'प्राप्त कर सकने' का अधिकार उतना ही होना चाहिए। दरबारी कवि विद्यापति के 'व्यक्ति' का मूल अंतर्द्वंद्व यही है कि जिस इहलौकिक, ठोस प्रेम को वे खोज रहे थे और जो उन्हें 'अपरूप' लगता था; उसे पाने के लिए पर्याप्त शक्ति उनके 'अभिजात' के पास होते हुए भी नहीं थी। 'सामाजिक शक्ति' उनके 'अपरूप' को दे पाने में अक्षम थी; क्योंकि उनके अपरूप के पास इतनी सामाजिक शक्ति नहीं थी कि वह एक सार्थक 'चुनाव' का द्विपक्षीय चरित्र निभा सके। अपना अभिजात

लेकर वे मारे-मारे घूमे, लेकिन तलाश कहाँ पूरी होती है ? उनकी 'प्यास' का यह सामाजिक पक्ष है, जो उनकी तलाश के 'अपरूप' में उनकी कविताओं में समाया है। जो प्रेम वे अपने जीवन में नहीं पा सकते थे, उसे उन्होंने राधा के 'सौंदर्य' में जी लेने की कोशिश की। यहाँ आकर स्पष्ट है कि उनकी सौंदर्य चेतना के मूल में उनके आत्म-अनुभवों का विस्तार है। कोई भी अनुभव अपने आप में सुंदर नहीं होता, 'सुंदर' वह तब होता है जब उसमें संवेदना के 'नए-नए स्तर' उद्घाटित होते हैं। कहना न होगा कि वास्तविक जीवन में जिस प्रेम की उन्हें 'तलाश' थी और जो तलाश उनके, 'जुबती रति-रंग मेलि' के रूप में प्रकट हो रही थी, जीवन की पुनर्रचना, अर्थात् कविता में भी उनकी वही तलाश 'आत्मानुभव के नित नए अर्थ-विस्तार'² में प्रकट होती है। यह 'अर्थ-विस्तार' राधा के शारीरिक ऐन्द्रिक सौंदर्य के रूप में है जो उनके 'यथार्थ' की पुनर्रचना थी। इसलिए मैंने कहा कि विद्यापति 'सौंदर्य की मुक्त चेतना की तलाश' के कवि हैं। वे सौंदर्य में मुक्ति देखते हैं और मुक्ति को सौंदर्य मानते हैं। यह मुक्ति एक ओर उनकी पराधीनता की उपज है तो दूसरी ओर यह 'सौंदर्य की मुक्ति-कामना' है। जब तक सौंदर्य मुक्त नहीं होगा तब तक विद्यापति मुक्त नहीं होंगे। मुक्ति की यही तलाश (दोनों स्तरों पर) विद्यापति का मूल अंतर्द्वंद्व है और उनकी सौंदर्य चेतना का केन्द्र बिंदु भी।

विद्यापति के सौंदर्य-मुक्ति का स्वरूप :

"इस वेश्यावृत्ति के आधार पर ही यूनान का वह एकमात्र प्रसिद्ध नारी वर्ग विकसित हुआ था, जो अपने बुद्धिबल और कला-प्रेम के कारण प्राचीन काल की नारियों के साधारण स्तर से उतना ही ऊपर उठ गया था, जितना ऊपर स्पार्टा की नारियाँ अपने चरित्र के कारण उठ गई थीं। एथेंस की पारिवारिक व्यवस्था पर इससे भयंकर इलजाम और क्या लगाया जा सकता है कि सही मायनों में नारी बनने के लिए पहले 'हेटेरा' बनना पड़ता था।"

- फ्रेडरिक एंगेल्स

प्राचीन स्पार्टा और एथेंस की पारिवारिक व्यवस्था पर एंगेल्स की इस टिप्पणी को गौर से देखें तो एक ऐसी औरत की तस्वीर सामने आती है, जिसके पास अपनी क्षमताओं के उपयोग के अवसर नहीं हैं। आदमी और समाज के दोहरे बोझ तले दबी यह नारी 'स्वतंत्र' नहीं है। इसके कौमार्य पर आग्रह है और इसे अपने कौमार्य की रक्षा करनी है, जिससे यह एक स्त्री बनी रह सके। इसके लिए आवश्यक है कि यह स्त्री 'प्रेम' कर सकने के लिए स्वतंत्र न हो, क्योंकि ऐसी स्थिति में उसका कौमार्य भंग हो सकता है, यानी उसके ऊपर लदे संस्थागत-आधिपत्य के तर्क भंग हो सकते हैं। लेकिन विडंबना यह है कि इतिहास में अपना नाम लिखाया जा सके, अपनी क्षमताओं का उपयोग किया जा सके, इसके लिए 'स्वतंत्रता' आवश्यक है; और अंकुश लगाए बैठी व्यवस्था का तर्क इस स्वतंत्रता को नहीं देने देगा।

विद्यापति के सौंदर्य की मुक्ति चेतना 'प्रेम के पात्र' के चुनाव की स्वतंत्रता को वेश्यावृत्ति करार देने वाली व्यवस्था के बीचोंबीच फँसे आदमी की 'तलाश' है। वास्तविक जीवन का यथार्थ कड़वा है इसलिए 'खट्टे अंगूरों' की 'प्रतिक्रिया' उनके काव्य की नायिका के रूप में कल्पना-विस्तार करती है। उनकी 'सौंदर्य' प्रतिमा ठीक वैसी होनी थी जैसी 'राधा' के रूप में उन्होंने सोची है। वास्तविक जीवन में वैसी प्रतिमा नहीं है, जो उन्हें चुन सके, उन्हें भोग सके। जीवन की पुनर्रचना के माध्यम से वह 'परकीया' उपलब्ध है; जो उन्मुक्त, स्वच्छंद, प्रेमाभिव्यक्ति के लिए स्वतंत्र है। 'अपरूप' का इस्तेमाल वे अपनी 'सौंदर्य प्रतिमा' की अपूर्वता के संदर्भ में करते रहते हैं; और इस 'अपूर्वता' के सूत्र उनकी

मुक्ति-चेतना में ढूँढ़े जा सकते हैं, जिसके लिए यथार्थ जीवन में 'अपूर्व सौंदर्य की प्राप्ति' असंभव थी। राधा के रूप में औरत का वह स्वच्छंद स्वरूप विद्यापति गढ़ते हैं; जिसमें परकीया-प्रेम को सामाजिक-स्वीकृति-संपन्न दैवीय प्रतीकों के माध्यम से प्रकट किया गया है। क्योंकि देवियों और अवतारों के अतिरिक्त अन्य किसी को यह अधिकार नहीं दिया जा सकता था कि वह मर्यादातीत रूप से स्वच्छंद हो सके। राधा-कृष्ण की स्वीकृत-द्वय एक रूढ़ि के अर्थ में ही सही, 'सामाजिक-मान्यता' प्राप्त जोड़ी थी। हैरत तो तब होती है, जब उन्हें भी विद्यापति 'जमीन' पर लाकर छोड़ते हैं। यथार्थ का अंतर्द्वंद्व कुछ इतना ही ठोस था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सूरदास के संदर्भ में लिखते हैं कि "वल्लभ-संप्रदाय में गोपियों को परकीया नहीं समझा गया है।" उनके अनुसार सूरदास ने राधिका और कृष्ण का विवाह तक कराया है। लेकिन विद्यापति क्यों कराने लगे ? उन्हें तो औरत का यही परकीया रूप पसंद था। यही तो उनका अपूर्व-अपरूप था, जो 'सच-मुच' में नहीं मिल पाता। राधा पर 'ऐन्द्रिकता' के आरोपण का तर्क भी यहीं मिल जाता है। विद्यापति का प्रेम इहलौकिक है और वह 'शरीर के सच' को पहचानता है। नारी पर ऐन्द्रिकता के आरोपण की एक परंपरा भी सामने थी। दरबार उसका 'औचित्य' था। उनका दरबारी होना उनकी मांसलता की वजह नहीं है, यह बात तो उनकी मांसलता को 'वैधता' प्रदान करती है। मांसल तो वे स्वभाव से ही हैं और 'परकीया' का चरित्र इसके लिए स्वभावतः ही आवश्यक सामग्री प्रदान कर देता है। यदि उनका ऐन्द्रिकता पर 'भरोसा' न होता तो वे इस कदर 'इमोटिव' न हो पाते। उनकी तलाश की अनुभवजन्य प्रामाणिकता इस 'इमोटिवनेस' की कसौटी है। राधा की वयः सन्धि का उन्होंने उन्मुक्त चित्र खींचा है। उसके सौंदर्य का उन्होंने ऐन्द्रिक वर्णन किया है। उनकी आत्मपरकता ने अपनी 'सौंदर्य-प्रतिमूर्ति' राधा के शरीर पर, उसके हृदय पर आरोपित की है। वे राधा पर अपनी तलाश, अपनी दृष्टि आरोपित करते हैं।

विद्यापति के प्रेम का स्वरूप :

"अब संभोग का औचित्य अथवा अनौचित्य एक नए नैतिक मनदंड से निश्चित होने लगता है। अब केवल यही सवाल नहीं किया जाता कि संभोग वैध है अथवा अवैध, बल्कि यह भी किया जाता है कि वह पारस्परिक प्रेम का परिणाम है या नहीं" - एंगेल्स

विद्यापति का अभिप्रेत प्रेम दो तरफा है। उनका संभोग भी 'पारस्परिक-प्रेम का परिणाम' है, लेकिन सही मायने में, अर्थात्, आधुनिक अर्थों में उनका प्रेम 'व्यक्तिगत-यौन प्रेम' है अथवा नहीं, इसमें शक है। राधा और कृष्ण बराबरी के धरातल पर खड़े हैं, एक अपरूप है तो दूसरा 'तोहर सरिस एक तोही माधव' है। दोनों एक दूसरे के बगैर नहीं रह सकते। लेकिन फिर भी कृष्ण दूसरी औरतों के साथ रात बिता कर आते हैं। संबंधों की परंपरागत दृष्टि यही है कि - पुरुष भ्रमरसम कुसुमे कुसुमे रम / पेअसि करे कि पारे। यह 'अंतर्विरोध' वास्तव में विद्यापति का ही अंतर्विरोध है जिसे कृष्ण के देवत्व और राधा के अपरूप की आड़ में छिपा रखा है। जब कृष्ण उस अपरूप को भोगते हैं तो इसका अर्थ यही है कि वास्तविक जीवन में जो तलाश पूरी नहीं हो पाई, विद्यापति उसे कृष्ण के माध्यम से पूरी करना चाहते हैं। विद्यापति अपने आपको अपने कृष्ण से identify करते हैं। यह 'चुनाव के अवसरों के अभाव' से निकला अंतर्विरोध है, जिसका शमन देवत्व की आड़ में होता है, और जीवन के अंत में जब यह 'अंतर्विरोध' उभरकर सामने आ जाता है, तो एक बार फिर वे उसी देवता की शरण में जाते हैं, जिसको कभी वे आत्मविश्वास के साथ जमीन पर लाए थे :

भनई विद्यापति सेस सयन भय तुम बिनु गति नहि आरा।

तोहे अनाथक, नाथ कहा ओसि तारन भार तोहारा।।

विद्यापति के 'संभोग की ऐन्द्रिकता' सूरदास से और मीराबाई से होते हुए घनानंद तक पहुँचते-पहुँचते सूक्ष्मतरंग हो जाती है। घनानंद तो 'हृदय के भावों' को प्रकट करने वाले कवि हैं। उनकी यह माँसलता उनके आत्मविश्वास की उपज है और 'भोग' नारी का भोग नहीं है। उनका भोग 'नारी और पुरुष का संभोग है, और वास्तविक जीवन में भोग की समानता, द्विपक्षीयता के अभाव की प्रतिच्छाया है। विद्यापति इन्हीं अर्थों में नारी पुरुष समानता का संदेश देते हैं। उनका यह संदेश उस समाज के लिए और भी आवश्यक है, जिसमें 'संभोग' वर्जनाएँ हैं, जिसमें 'पुरुष ही नारी का भोग करता है'। हमारे समय की नारियों के कौमार्य के अतिरिक्त आग्रह के ठीक खिलाफ उनका काव्य नारी-जाति की स्वतंत्रता का 'प्रस्थान बिंदु' है। प्रस्थान बिंदु इसलिए क्योंकि औरतों की अधीनता, उनकी 'यौन-सूचिता' के आग्रह के तर्क से ही आरंभ होती है। चुनाव के अवसर रहेंगे तो प्रेम होगा, तो औरत बराबरी पर खड़ी हो जाएगी तो 'दुनिया की आधी आबादी' के आधिपत्य के सामंती-तर्क छिन्न-विच्छिन्न हो जाएंगे। फिर कौन दहेज देगा, किसे जलाया जाएगा और कैसे 'किसी एक व्यक्तित्व की कीमत' पर जीवन पर्यंत अपना विकास किया जाएगा ? विद्यापति का काव्य एकविवाह पर आधारित आधुनिक वुर्जुआ परिवार के खिलाफ है और जैसा कि मैं कह चुका हूँ, 'संस्थाओं' के अंकुश के विरुद्ध औरत-मर्द के प्रेम कर पाने के अधिकार' की स्वतंत्रता उनके सौंदर्यबोध का केन्द्रीय 'थीम' है। एक विवाह पर आधारित आधुनिक वुर्जुआ परिवार के लिए उनका काव्य एक 'चुनौती' है, जिसमें औरत की 'यौन-सूचिता' को इसलिए अक्षुण्ण रहना चाहिए, जिससे पितृसत्तात्मक परिवार के 'उत्तराधिकार' को चलाया जा सके। औरत स्वतंत्र होगी तो उसके कई मर्दों से संबंध रह सकते हैं, क्योंकि मूलतः तो व्यक्ति बुरा ही है और कई मर्दों से संबंध का अर्थ है कि संतान के 'पितृत्व' का निर्धारण करना असंभव हो जाएगा; और फिर जब ये ही नहीं निर्धारित है कि पिता कौन है तो 'असल पिता' की संपत्ति का उत्तराधिकारी कौन होगा ! इन्हीं संदर्भों में विद्यापति का काव्य एक संदेश है।

यही कारण है कि विद्यापति के काव्य को 'नैतिकता' और 'श्लीलता' की रक्षा के नाम पर हाशिए पर ठेलने की कोशिश की जाती है। जो माँसलता आधुनिक परिवार के लिए एक खतरा है, उसे पाठ्यक्रम में कैसे शामिल किया जा सकता है? और कैसे स्त्री-जाति को बताया जा सकता है कोई स्त्री इतनी भी उन्मुक्त, इतनी भी माँसल हो सकती है कि कोई स्त्री अगर अपनी सखी से पूछे कि 'काम केलि' क्या होती है, तो इसमें कुछ भी गलत नहीं कि कोई स्त्री अगर 'अकेले में आपही अपनी छाती देख देख मुस्काए,' तो इसमें कोई हर्ज नहीं है। नहीं, विद्यापति की ऐन्द्रिकता औरत-जाति को पतन के गर्त में गिरा सकती है। अतः भले ही उसे 'अकुंठ भाव' से लिया गया हो, उसे अनैतिक घोषित कर देना आवश्यक है! संस्थाओं का शोषण बना रहे, यह जरूरी है। यथास्थितिवाद के खिलाफ जाने वाली कोई भी चीज 'अश्लील' हो सकती है!

तब भी, विद्यापति का सौंदर्य-बोध मूल्यांकन का मोहताज नहीं है। अपनी सौंदर्य की प्रतिमा उन्होंने नारी-मुक्ति-आंदोलन के मद्देनजर नहीं गढ़ी थी। उनका संदेश तो कान फाड़कर गूँजता है और कुंठाएँ उससे लड़ नहीं सकतीं। कुंठा अंतर्विरोधों से निकलती है; इसलिए रोज-बरोज वह उघड़ती भी चलती है। लेकिन विद्यापति के सौंदर्य की मुक्ति 'नारी' इन सबसे ऊपर है। वह ठोस संसार के सच पर खड़ी है और विद्यापति दुखी होकर उसे पुकारा करते हैं; 'विद्यापति कवि गाओल रे - आई मिलवे प्रिय तोर' - उनकी मुक्ति चेतना गाती है, और हम सुनते हैं, कि :

जनम होअए जनु, जओं पुनि होइ ।
 युवती भए जनमए जनु कोई ॥
 होइए जुबति जनु हो रसमंति ।
 रसओ बुझए जनुहो कुलमंति ॥
 निधन माँगओं बिहि एक पए तोहि ।
 थिरता दिहह अवसानहु मोहि ॥
 मिलओ सामि नागर रसधार ।
 परबस जन होउ हमार पिआर ॥
 परबस होइह बुझिह बिचारि ।
 पाए बिचार हार कओन नारि ॥
 भनइ विद्यापति अछ परकार ।
 दंद-समुद हाअ जिब दए पार ॥
 - नागार्जुन रचनावली, भाग 3, पृ. 490

(सखी, अच्छा है, पैदा न हो ! अगर पैदा हो ही जाय तो लड़की होकर पैदा न हो !
 अगर युवती ही हो उसे रसवंती नहीं होना चाहिए। यदि रसवंती हो तो उसे अच्छे खानदान की नहीं
 होना चाहिए।
 विधाता, मैं तुमसे मृत्यु माँगती हूँ। साथ ही एक बात का ध्यान रखना। अंतिम क्षणों में भी मेरे मन
 को चंचल न बनाना।
 स्वामी मिले और चतुर मिले, रसिक मिले, मगर मेरा प्यार कभी पराधीन न हो।
 पराधीन ही हो तो इतना ज़रूर रखना कि प्रेमी विचारवान हो। प्रेमी के अंदर विवेक हो तो कौन नारी
 बाजी हारेगी ?
 विद्यापति कहते हैं - “हाँ, है रास्ता इसका भी। जान की बाज़ी लगाकर अड़ जाओगी तो सारे झमेले
 हल हो जाएंगे।”)

संदर्भ :

1. सखि कि पूछसि अनुभव मोए
से हो पिरित अनुराग बखानिए
तिल तिल जूतन होए
जनम अवधि हम रुप निहारल नयन न तिरपित भेल
2. विद्यापति, शिवप्रसाद सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1975, पृष्ठ संख्या 26
3. नागार्जुन रचनावली, भाग 3, पृ. 490.



द्विवेदी युगीन काव्य पर कबीर का प्रभाव

- सुमी गोप

आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में सन् 1900 से 1918 तक का काल-खंड 'द्विवेदी युग' के नाम से अभिहित है। इस युग के काल की पृष्ठभूमि में एक ओर तो आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सिद्धांत और आदर्श रहे हैं तो दूसरी ओर समकालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों ने इसकी पीठिका निर्मित की है। सन् 1903 में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' का संपादन कार्य अपने हाथ में लिया और साथ ही कवियों को औचित्य का ज्ञान कराते हुए निर्दिष्ट मार्ग की ओर उन्मुख किया। वे खुद तो कवि के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त न कर सके, परन्तु उनके नेतृत्व में कवि शिक्षा प्राप्त करके अनेक कवियों को यश की प्राप्ति हुई। उन्होंने कवियों को काव्य के विषय, उद्देश्य, शैली और भाषा सभी पर प्रकाश डालते हुए एक आचार्य के रूप में कवि कर्तव्य का ज्ञान कराया। काव्य का विषय उन्होंने "चीटीं से लेकर हाथी पर्यंत पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यंत मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यंत जल, अनंत आकाश, अनंत पृथ्वी, अनंत पर्वत को बताया। मुक्तकों के स्थान पर द्विवेदी जी ने इतिवृत्तात्मक आख्यान काव्य लिखने की प्रेरणा दी।" "कविता का उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ उपदेशात्मकता और लोकहित को भी माना है।" "कवि-कर्म सर्व-साधारण की समझ में आने योग्य होना चाहिए, इसके लिए उसमें सरलता का गुण अपेक्षित है।" द्विवेदी जी ने काव्य में कोरी काल्पनिकता के स्थान पर यथार्थवादी दृष्टि को आवश्यक बताया। 'कवि और कविता' में मिल्टन की कविता संबंधी विचारों की समीक्षा करने के उपरांत अपना मत व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है- "कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए। अच्छी कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा।" कवियों ने तत्कालीन भारत के उद्धार के लिए ऐतिहासिक वीरों का गुणगान किया जो मैथिलीशरण गुप्त के काव्यों में विशेष रूप से देखा जा सकता है। उन्होंने भारतीय संस्कृति के तत्त्वों का स्मरण करते हुए जनता के समक्ष नैतिकता और मर्यादा के निर्वाह का आदर्श भी रखा। गुप्त और हरिऔध के 'साकेत' एवं 'प्रिय प्रवास' में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दृष्टिगत होती है। इस काल के कवियों ने 'लोक मंगल' को अपने काव्य का प्रमुख लक्ष्य बनाया।

इस युग के प्रमुख कवियों, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रामनरेश त्रिपाठी, नाथूराम शंकर, राय देवी प्रसाद पूर्ण, गया प्रसाद शुक्ल स्नेही, रामचरित उपाध्याय तथा श्रीधर पाठक आदि सभी पर कबीर का प्रभाव रहा है। मैथिलीशरण गुप्त कबीर की समाज व धर्म सुधारवादी विचारधारा से और विशेषतः उनके उपदेशात्मक पक्ष से अधिक प्रभावित हैं। उन्होंने गाँधी से प्रभावित होकर वर्ण भेद तथा अस्पृश्यता का विरोध अधिक किया है तथा धार्मिक क्षेत्र में उदारता और समत्ववाद पर बल दिया है। हरिऔध ने भी अनेकता के स्थान पर एकता धार्मिक मतवादों के स्थान पर सर्वधर्म

के एक ही सार तत्व तथा अछूतपन का अंत करके समानता का स्वर उद्घोषित किया। रामनरेश त्रिपाठी कबीर के समान सृष्टि के कण-कण में एक परम तत्व की सत्ता का आभास पाते हैं। उनकी प्रेमानुभूति और रहस्यात्मकता कबीर से प्रभावित है। कबीर के खण्डन-मण्डन की पद्धति की उग्रता कवि नाथूराम शंकर में झलकती है। प्रत्यक्षतः 'आर्य समाज' से प्रभावित होकर उन्होंने कबीर के समान ही मूर्तिपूजा और पाखंड आदि का उग्र शैली में विरोध किया तथा सामाजिक भ्रष्टाचार और कुरीतियों पर भी कड़ा प्रहार किए। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवियों में कबीर का प्रभाव स्पष्ट झलकता है।

द्विवेदी युगीन काव्य पर सर्वाधिक प्रभाव कबीर की धार्मिक और सामाजिक सुधारवादी विचारधारा का है। इस धारा के कवियों ने जहाँ एक ओर अपने तत्कालीन वातावरण की सूक्ष्मता के साथ पर्यवेक्षण करते हुए यथार्थ का चित्रण किया है; सामाजिक कुरीतियों, पाखण्डों और अंधविश्वासों की कटु निन्दा की है तो दूसरी ओर एकता, समानता तथा आदर्श मानवीय गुण के अनुसरण का उपदेश भी दिया है। संक्षेप में द्विवेदी युगीन काव्य के सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, रहस्यात्मक और अभिव्यक्ति सभी पक्षों पर कबीर का प्रभाव पड़ा है। इसका मूल्यांकन हम सामाजिक और धार्मिक सुधार प्रवृत्ति के अन्तर्गत कर सकते हैं।

सामाजिक और धार्मिक सुधार की प्रवृत्ति :

द्विवेदीयुगीन कवियों के काल की मूल प्रेरणा समाज रहा है। उसमें व्याप्त अनेक प्रकार की कुरीतियों, भ्रष्टाचार और धार्मिक पाखण्डों ने कवियों को सुधार कार्य की ओर उन्मुख किया। इस धारा के कवियों ने देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक दुरावस्था का यथार्थ चित्रण अपनी रचनाओं में किया। उनकी यह विचारधारा उन्हें कबीर के काफी निकट द्विवेदी युगीन काव्य की पृष्ठभूमि में उस समय की तत्कालीन परिस्थितियों का भी महत्वपूर्ण योगदान है। हर क्षेत्र से चाहे वह राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण हो, यह आन्दोलन का युग था। उस समय हमारा भारत ब्रिटिश शासन के अधीन था, जिसके फलस्वरूप लोगों में उनके प्रति विद्रोह का भाव तथा स्वदेश-प्रेम की भावना भरी हुई थी। महात्मा गाँधी का प्रवेश उस समय की तत्कालीन राजनीतिक वातावरण में एक नया मोड़ लेकर आया था। भारतेन्दु काल की सुधारवादी विचारधारा का और अधिक विस्तार हुआ। भारतीय समाज से अंधविश्वास, ऊँच-नीच तथा वर्ग भेद की भावना को समाप्त कर समानता तथा एकता पर बल देना चाह रहे थे। आर्य समाज का आन्दोलन, रामकृष्ण मिशन के कार्य ने भारतीयों में नई शक्ति प्रदान की। उस समय के महान समाज सुधारक के रूप में गाँधीजी, दयानन्द सरस्वती और परमहंस सामने आए। उस काल के कवि समाज में व्याप्त बुराईयों का यथार्थ चित्रण करना चाह रहे थे। प्रो. सुधीन्द्र के अनुसार— "कवियों का एक हाथ समाज के हृदय पर है, कान उनके जनपथ पर उठने वाली ध्वनि के साथ है और दूसरे हाथ में लेखनी है। हृदय की धड़कन को उनका बाँया हाथ सुनता है, दायाँ हाथ लिखता है और कान की सुनी हुई जनध्वनि को भी उसमें अंकित कर देता है।"¹⁵ इस युग का साहित्य समाज की यथार्थ समस्याओं के चित्रण का उद्देश्य लेकर चला है। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, बाल विवाह, विधवा-विवाह निषेध, दहेज प्रथा तथा अन्य अनेक प्रकार के भ्रष्टाचार व सामाजिक कुरीतियों का कवियों ने अपने लेखन के माध्यम से विरोध किया।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में रचित द्विवेदी युगीन कविताओं में हमें कहीं न कहीं कबीर का प्रभाव दिखाई देता है। इस धारा के कवियों का प्रमुख लक्ष्य लोकमंगल की भावना थी, जिसके लिए उन्होंने तत्कालीन सामाजिक यथार्थ का चित्रण अपने काव्यों में किया। कबीर अपने समय के महान सुधारक

जाने जाते हैं। द्विवेदीयुगीन कवियों ने समाज में व्याप्त अंधविश्वास, बाह्याडंबर, अस्पृश्यता का तीव्र विरोध करते थे। उनके इस लक्ष्य के प्रति कबीर की प्रेरणा कार्य कर रही थी। कबीर की विचारधारा का प्रभाव स्थूल रूप से कवियों पर स्वामी दयानन्द सरस्वती, परमहंस एवं विवेकानन्द और महात्मा गाँधी के विचारों से होकर आती है। कवि अपने समकालीन समाज को सुधारने का प्रमुख लक्ष्य लेकर चले थे। उनका दार्शनिक और आध्यात्मिक चिंतन समाज के हित के लिए ही था। ठीक वैसे ही प्रेरणा युग के कवियों को भी प्राप्त हुई थी। परिस्थितियाँ बदल जाने के कारण इनका कार्य कबीर की तुलना में और अधिक व्यापक रहा है। केवल धार्मिक पाखण्ड और सामाजिक वर्णभेद ही नहीं बल्कि समाज में व्याप्त कुरीतियाँ, कुप्रथाओं और भ्रष्टाचारों पर भी इनकी दृष्टि रही है। कबीर की तरह ही द्विवेदी युगीन कवियों का प्रमुख लक्ष्य समाज में विद्यमान कुरीतियों का यथार्थ चित्रण करते उनका विरोध करना था।

समाज सुधार की प्रथम आवश्यकता यही है कि समाज को उसके यथार्थ का ज्ञान कराते हुए उनके दोषों और कुरीतियों पर प्रकाश डाला जाए। कबीर ने इस लक्ष्य को समझते हुए सबसे अधिक महत्व इसी कार्य को दिया था। उन्होंने धार्मिक पाखंडों और अंधविश्वासों तथा अन्य सामाजिक दोषों पर प्रकाश डालते हुए उनका खण्डन किया था। इसी आवश्यकता को समझते हुए द्विवेदीयुगीन कवियों ने अपने समकालीन समाज में व्याप्त रूढ़ियों, आडम्बरों, अंधविश्वासों आदि का खण्डन करते हुए समाज का यथार्थ चित्र जन समाज के सामने प्रस्तुत किया। समाज को उसके दोषों से परिचित कराया। इस क्षेत्र में उनके विचारों का अध्ययन प्रमुख रूप से बाह्याडम्बरों एवं कर्मकाण्डों का खंडन, वर्णभेद और अस्पृश्यता का विरोध तथा सामाजिक कुरीतियों और भ्रष्टाचार का चित्रण आदि शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है।

बाह्याडम्बरों एवं कर्मकाण्डों का खंडन :

द्विवेदी युग का समाज धर्म के क्षेत्र में अनेक प्रकार के आडम्बरों, कर्मकाण्डों और अंधविश्वासों से ग्रस्त था। सत्य धर्म ब्राह्मणों की पूजा, जप-तप आदि में लुप्त हो गया था, केवल बाह्य विधान ही उसमें सर्वोपरि थे। फलतः सब प्रकार के आडम्बरों और मतवादों का यथार्थ चित्रण करते हुए इन कवियों ने समाज को सचेत किया। गेरूए वस्त्र पहनकर, केश मुंडवा कर राम नाम जपने वाले साधुओं पर जिस प्रकार कबीर ने अनेक प्रकार के व्यंग्य किए हैं। केश मुंडाने के स्थान पर मन को मूंडने की आवश्यकता पर बल दिया था। यही भाव हरिऔध जी की इन पंक्तियों में व्यक्त हुआ है -

“आप रहे कोरा शरीर के बसन रंगावै।
घर तज करके घर बारी से बढ जावै,
मन को मूंड न सके मूंड को दौड़ मुंडावै।
मन को मोह न हरे राल धन पर टपकावै,”⁶

मूर्तिपूजा एवं अन्य पाखण्डों का खण्डन करते हुए कवि नाथूराम शंकर ने कबीर जैसी ही कटु आलोचनात्मक और उग्र शैली के दर्शन होते हैं। ‘आर्य समाज’ से प्रभावित होकर उन्होंने मूर्तिपूजा और पाखण्डों के आडम्बरों का तीव्र खण्डन किया। शिवलिंग की पूजा का उपहास उड़ाते हुए वे कहते हैं-

“शैली विशाल महीतल फोड़ बदे
जिनको तुम तोड़ कढ़े हो।
लै लुढ़की जलधार धड़ाधड़ ने

घर गोल-मटोल गढ़े हो,
 प्राण विहीन कलेवर धार विराज रहे
 न लिखे न पढ़े हो।
 हे जड़ देव शिलासुत शंकर
 भारत पै करि कोप चढ़े हो, ”

हिंदू धर्म में व्याप्त कर्मकाण्डों के लिए पंडितों और पुरोहितों को उत्तरदायी ठहराते हुए जिस प्रकार कबीर ने उनकी कटु भर्त्सना की थी, उन्हें कटु व्यंग्य का शिकार बनाया था। उसी प्रकार पाण्डे और पुरोहित आधुनिक युग में भी हिन्दू धर्म को पथ-भ्रष्ट करने में दोषी पाए गए हैं। भोली-भाली आम जनता को ठगना उनका कार्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धार्मिक पाखण्डों और कर्मकाण्डों का विरोध करते हुए द्विवेदी युग के कवियों ने कबीर की परंपरा को ही आगे बढ़ाया। कबीर से इन कवियों का एक अंतर अवश्य रहा, वह यह कि कबीर की शैली में अधिक उग्रता थी, उन्होंने कर्मकाण्डों की निन्दा कटुता और अहंपूर्वक की। कबीर की शैली की कुछ झलक हमें नाथूराम शंकर में अवश्य मिलती है।

वर्णभेद और अस्पृश्यता का विरोध :

द्विवेदी युग का समाज अनेक जातियों तथा वर्णों में विभक्त था। परस्पर वैमनस्य, खान-पान निषेध और कटुता ने हिन्दू समाज को जर्जर बना रखा था। समाज में ब्राह्मण स्वयं को सर्वोच्च जाति का समझते थे। उनके अत्याचारों से विशेष रूप से शूद्र समाज दुखी था। कबीर ने जिस प्रकार अछूतों और शूद्रों का पक्ष लेते हुए ब्राह्मणों को उनके अहंवाद के लिए फटकारा था और सामाजिक एकता पर बल दिया था, ठीक उसी प्रकार द्विवेदी युग के कवियों की दृष्टि समाज को विशृंखल बनने वाली इस भावना पर भी रही थी। जाति-भेद ही भारतीय समाज के पतन का मूल कारण है। इस तथ्य को समझते हुए कवियों ने जाति-सुधार के लिए इस वर्णभेद की भावना के अंत का प्रयास किया। नाथूराम शंकर इसे मिटाने के लिए तीव्र आक्रोश में आकर कहते हैं -

“जाति-पाँति के निकट जाल में, जूझे फंसे गँवार
 मैं सबकी सुलझा दूँगा करके एकाकार,”

जाति-प्रथा और अस्पृश्यता के लिए ब्राह्मण वर्ग उत्तरदायी रहा है। कबीर के व्यंग्य और आलोचना के शिकार ब्राह्मण हो रहे हैं। इस युग के कवियों ने भी ब्राह्मणों के अहंभाव की कटु निन्दा की है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्णभेद और अस्पृश्यता से दूर करने के लिए द्विवेदी-युग के कवि विशेष रूप से प्रयत्नशील रहे हैं। कबीर के विचारों और आदर्शों का उन्होंने समाज को पुनः स्मरण कराने का प्रयास किया।

सामाजिक कुरीतियों और भ्रष्टाचार का चित्रण :

सामाजिक सुधार से प्रेरित द्विवेदी युग के कवियों ने समाज में व्याप्त कुरीतियों और भ्रष्टाचार से भी जनता को सचेत किया है। कबीर ने जिस प्रकार तत्कालीन समाज में प्रचलित व्यभिचारों और पाखंडों का यथार्थ चित्रण करते हुए जनता का मार्ग दर्शन किया था, उसी प्रकार द्विवेदी युग के कवियों ने भी अपने समकालीन समाज का ऐसा ही चित्रण करते हुए जनता को जागरूक बनाया। दहेज प्रथा,

बाल विवाह, अनमेल विवाह जैसी सामाजिक कुप्रथाओं से लेकर नशेबाजी, मुकदमेबाजी, रूढ़िवादिता आदि पर कवि की तीक्ष्ण दृष्टि पड़ी है। मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, ठाकुर गोपालशरण सिंह, श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर आदि कवियों के साथ-साथ स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी इन विषयों पर कविताएँ लिखीं।

बाल विवाह और अनमेल विवाह की प्रथा इस युग के समाज में विशेष रूप से प्रचलित थी। अनमेल विवाह विधवाओं की बढ़ती हुई संख्या और सामाजिक पतन का मूल कारण है। व्यथित स्वर्ण में कवि मैथिलीशरण गुप्त जी कहते हैं -

“प्रतिवर्ष विधवा वृंद की संख्या निरन्तर बढ़ रही,
रोता कभी आकाश है फटती कभी हिलकर मही।
हा ! देख समता कौन ऐसे दग्धकारी दाह को,
फिर भी नहीं हम छोड़ सकते बाल्य वृद्ध विवाह को।”⁸

सामाजिक कुरीतियों के साथ-साथ अन्य क्षेत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचारों का भी द्विवेदी युग के काव्य में यथार्थ चित्रण मिलता है। मैथिलीशरण गुप्त ने सामान्य जीवन से संबंध रखने वाले आचरणों नशेबाजी, मुकदमेबाजी और व्यापार में मिलावट आदि पर प्रकाश डाला है। चरस, गांजा, चण्डू, मदिरा आदि मादक द्रव्यों के नशे में मत्त रहने वाले भारतीयों की दीन दशा पर क्षुब्ध होते हुए वे कहते हैं -

“जो मत्त होकर तत्वमसि का गान करते थे सदा।
स्वच्छन्द ब्रह्मानंद का रसपान करते थे सदा
यथादि मादक वस्तुओं से मत्त हैं सब हम वही।
करते सदैव प्रलाप है सुध-बुध सभी जाति रही।”⁹

इस प्रकार स्पष्ट है कि द्विवेदी युग के कवियों ने अपने समकालीन समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। युगीन कुरीतियों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने जनता को उनसे सचेत किया। उनका यह कार्य कबीर से प्रभावित था। अंतर केवल यह रहा कि कबीर के समय की और इस युग की कुरीतियों में भिन्नता थी। उस समय देश में धार्मिक पाखंड ही अधिक था। अन्य कुरीतियाँ उतनी प्रचुर मात्रा में समाज में दृष्टिगत नहीं होती थी। इसलिए कबीर का क्षेत्र भी धार्मिक पाखण्ड और अंधविश्वास ही अधिक रहा। द्विवेदी युगीन कवियों की दृष्टि धार्मिक पाखण्डों और अंधविश्वास जन्य सामाजिक अवस्था के साथ-साथ अन्य पक्षों पर भी पड़ी। अतः कबीर के कार्य को उन्होंने और अधिक व्यापक स्तर पर किया।

संदर्भ :

1. कवि कर्तव्य, रसज्ञ रंजन, पृ. 11
2. कवि कर्तव्य, रसज्ञ रंजन, पृ. 12
3. कवि कर्तव्य, रसज्ञ रंजन, पृ. 6
4. कवि कर्तव्य, रसज्ञ रंजन, पृ. 51
5. हिन्दी कविता के युगान्तर, डॉ. सुधीन्द्र, पृ. 142
6. अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, पृ. 48
7. नाथूराम शंकर, अनुराग रत्न, पृ. 233
8. भारत भारती, मैथिलीशरण गुप्त, पृ. 143
9. भारत भारती, मैथिलीशरण गुप्त, पृ. 144



शमशेर की कविताओं में प्रकृति चित्रण

– रेणुका सुरेश

प्रकृति और मनुष्य का संबंध मानव जीवन के आरंभ से ही रहा है। साहित्य का संबंध प्रकृति और ब्रह्मांड की उन समस्त अंधकारपूर्ण रहस्यमय शक्तियों से है जो मनुष्य के बाहर होते हुए भी उसकी स्थिति में दखल देती हैं। आधुनिक कवियों के काव्य में जहाँ-जहाँ विद्रोहात्मक क्रांति के साथ राष्ट्रीय जागरण या राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति हुई है वहाँ-वहाँ प्रकृति परिवेश के चित्र अधिक देखने को मिलते हैं। प्रकृति का संबंध सौंदर्य से ही नहीं, बल्कि जन जीवन की अभिव्यक्ति से भी है। प्रकृति एक सक्रिय सत्ता है। वह भावात्मक और विचारात्मक दृष्टि से जगजीवन को प्रभावित करती है।

शमशेरजी में जो अनुभूति है, वह अनुभूति ईमानदारी से जुड़ी है। प्रकृति के प्रति शमशेरजी का आकर्षण अत्यंत गहरा है। वे देहरादून में पैदा हुए और वहाँ की प्रकृति उनके वजूद का हिस्सा हो गई। उनकी चेतना के निर्माण में देहरादून की प्रकृति का महत्वपूर्ण योगदान है। शमशेर देहरादून के पहाड़ों, बादलों, वृक्षों के सौंदर्य पर मुग्ध हैं। वे अपनी कविताओं के माध्यम से प्रकृति को अत्यंत रोचक ढंग से चित्रित करते हैं। शमशेरजी सौंदर्यवादी कवि हैं। प्रकृति को आलंबन और उद्दीपन, दोनों रूपों में चित्रित करते हैं। प्रकृति के आनंददायी रूप के साथ-साथ उसमें उदासी के रंग को भी चित्रित किया है।

शमशेर स्वतंत्र प्रकृति से ज्यादा मनुष्यों से ही आकृष्ट होते हैं। कविता में मानवमन की भावातिरेकों का वर्णन प्रकृति के माध्यम से करते हैं। कोठरी के आइने में खड़े होकर मुस्कुराने वाली धूप का काल्पनिक चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि को अचानक माँ के उदासमुख की याद आ जाती है। उदास माँ की स्मृति छाई हुई नभ को मोम-सा पीला बताया है –

पारदर्शी धूप के पर्दे
मुसकराते
मौन आंगन में
मोम-सा पीला
बहुत कोमल नभ
आज बचपन का
उदास माँ का मुख
याद आता है।¹

शमशेर ने प्रकृति को पूर्ण रूप से हमारे सामने प्रस्तुत किया है। शमशेरजी की कविता प्रकृति

की पूर्ण सृष्टि है। कलियों में और फूलों में यौवन के सपनों को अतिशयोक्ति के साथ इस तरह चित्रित किया है-

कुंज गदराया है
 यौवन के सपनों से
 अभी अनजान मानो
 चुम्बन की मीठी पुचकारियाँ
 खिला रही कलियों को फूलों को हँसा रही।¹

यहाँ शमशेर मोर के अलसाए अधनिंदी स्थिति का चित्रण और कोमल किरणों के स्पर्श से खिलती कलियों का चित्रण भाव-सौंदर्य को दृश्य रूप में चित्रित करता है। शमशेर ने समय की अनंतता प्रवाहशीलता आदि को अपनी कविता में समेटने का प्रयास किया है। शमशेर ने प्रकृति के सुंदर, सरल एवं तरल चित्र को प्रस्तुत करके समय के अनंत रथ के प्रवाह का आह्वान किया है। मौन, संध्या, टीका, पर्वत, चाँदनी, तारे सब समय रथ आदि साधनों को आगे बढ़ाते हुए शमशेर कहते हैं-

घिर गया है समय का रथ कहीं।
 लालिमा से मढ गया है राग।
 भावना की तुंग लहरें
 पन्थ अपना, अन्त अपना जान
 रोलती है मुक्ति के उद्गार।

शमशेर की कविताओं में 'शाम' को बिंब के रूप में चित्रित किया है। 'एक पीली शाम' कविता में समर्पण एवं साक्षात्कार है। प्रियतमा के विरह का पूरा भाव उदासी में सूनापन है -

एक पीली शाम
 पतझर का अटका हुआ पत्ता
 शांत मेरी भावनाओं में तुम्हारा मुखकमल
 कृशक्लान हारा-सा।

शमशेर ने विरह, पीडा, लालसा, उन्माद, भावनाओं को प्रकृति में प्रतिफलित किया है। आत्मीय क्षणों को केन्द्र में रखकर शमशेर उदास होते हैं। सूर्यास्त उनकी उदासी को प्रतिबिंबित करता है। सूर्य, बिना उल्लास के मौन में डूब जाता है और अनेक यादें शाम के साथ उग आती हैं-

सूर्य मेरी अस्थियों के मौन के डूबा
 व्योम में फैली हुए महाराव के विस्तार
 स्तूप और मिनार नभ को थामने
 के लिए
 उठ गए।

शमशेर के काव्य में शाम, गुलाब, दरिया, बादल, नींद, मौन, सत्य, आइना आते हैं। शाम उदासी के निकट होती है, कभी मृत्यु के और कभी प्रेमिका के वसंत की पतझड़ी शाम प्रेमिका के उदास मुख की स्मृति लाता है तो कई बार सलाने जिस्म के लिए शाम का बहता हुआ दरिया बनकर -

शाम का बहता हुआ दरिया कहाँ ठहरा !
 साँवली पलकें नशीली नींद में जैसे झुकें

चाँदनी से भरी-भरी बदलियाँ हैं -
 खाब में गीत पेंग लेते हैं;
 प्रेम की गुड़ियाँ झुलाती है उन्हें
 उस तरह का गीत, वैसी नींद, वैसी
 शाम-साहै
 वह सलोना जिस्म।

जन जीवन की यथार्थ स्थितियों के उद्घाटन करने के लिए प्रकृति को माध्यम बनाया है। 'य
 शाम है' कविता में ग्वालियर की एक सूनी शाम का भाव चित्र प्रस्तुत किया है -

य शाम है
 कि आसमान खेत है पके हुए अनाज का।
 लपक उठी, लहू-भरी दरातियाँ
 -कि आग है।
 धुआँ-धुआँ
 सुलग रहा
 ग्वालियर के मजूर का हृदय।

इस कविता में ग्वालियर के मजदूरों के लिए कराहती धरा का हृदय-द्रावक चित्र प्रस्तुत किया है। यहाँ कवि ने शोषक शैतानों के प्रति अपना रोष और शोषितों के प्रति अपनी हमदर्दी और हृदय की पीड़ा को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त किया है।

ऋतुओं और उत्सवों में मानव मन की रागात्मकता तथा सामाजिक चेतना निहित है। होली जैसे त्योहारों में मानव समाज की भलाई की भावना है, सौंदर्य का प्रकाश भी है क्योंकि रंग, सुंदरता का पर्यायवाची है -

एक ही ऋतु हम
 जी सकेंगे
 एक ही सिल बर्फ की
 प्राण अपने
 यही सब कुछ है
 इसी ऋतु में
 इसी हम में।

शमशेर ने अपनी संवेदनशील कलम से प्रकृति को बड़े पैमाने पर चित्रित किया है। विख्यात सौंदर्य शास्त्री वेरलास्की का कहना है, 'कवि जितना अधिक प्रतिभाशाली होगा उतनी ही गहराई और व्यापकता के साथ वह प्रकृति को अपनी हृदय से लगाएगा और उतनी ही सफलता से वह उसे उसके परम सजीव और घनिष्ठ रूप में चित्रित करेगा। 'शमशेर की कविताओं में द्रष्टव्य प्रकृति को अपनी काव्यानुभूति के अभिन्न अंश के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रकृति सौंदर्य की रचनाएँ शमशेर की निर्मल और मुग्ध दृष्टि का परिचायक हैं। प्रकृति के साथ शमशेर का निकट संबंध है। शमशेर ने प्रकृति के जीव में तथा उसके महत्व को रचना में आत्मसात किया है। 'पीली शाम' जैसी कविताओं में प्रकृति के मनोरम दृश्यों में निराशा, पीड़ा, उदासी आदि मानवीय भावनाओं को मिलाकर अपनी कविताओं में व्यक्त किए हैं। 'उषा' शीर्षक कविता में शमशेर ने जागरण की चेतना को अभिव्यक्त किया है। एक कुशल

कवि-कलाकार की भाँति उन्होंने बड़ी तन्मयता से प्राकृतिक दृश्यों का सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रांकन किया है। उनकी कविताएँ सूक्ष्म पर्यवेक्षण, क्षमता, रमणीयता की दृष्टि से अत्यंत रोचक है।

संदर्भ :

1. शमशेर बहादूर सिंह - टूटी हुई, बिखरी हुई, पृ. सं. 150
2. शमशेर बहादूर सिंह - कुछ कविताएँ, पृ. सं 62
3. शमशेर बहादूर सिंह-टूटी हुई, बिखरी हुई, पृ सं. 119
4. शमशेर बहादूर सिंह-कुछ कविताएँ और कुछ और कविताएँ पृ. सं. 116



हिमांशु श्रीवास्तव के उपन्यासों में प्रगतिवादी तत्व

- मदन कुमार चौरसिया

सन् 1936 ई. के आसपास मार्क्सवादी दर्शन के आलोक में शोषण के विरुद्ध नई सामाजिक चेतना और भाव-बोध को लेकर रचे गए साहित्य को प्रगतिशील साहित्य की संज्ञा दी गई। प्रगतिशील साहित्यकारों ने साहित्य को मार्क्सवादी विचारधारा के प्रचार-प्रसार का साधन बना लिया। यह दौर भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के उत्तरोत्तर फैलते जाने का था एवं तत्कालीन राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियाँ भी प्रगतिशील साहित्य के लिए सहायक सिद्ध हुईं।

सन् 1935 में ही फ्रांस में ई. एम. फोर्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' का प्रथम अधिवेशन हुआ और सन् 1936 ई. में सज्जाद जहीर और डा. मूलकराज आनंद के प्रयत्नों से भारत वर्ष में इसकी शाखा स्थापित हुई तथा प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना भारत में हुई, जिसका पहला अधिवेशन लखनऊ में सन् 1936 में प्रेमचंद की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। प्रेमचंद ने अध्यक्षता करते हुए कहा था -

“हमारी कसौटी पर वही साहित्य खड़ा उतरेगा जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, जो हमें गति, बेचैनी और संघर्ष पैदा करे, सुलाए नहीं क्योंकि अब और सोना मृत्यु का लक्षण है।”

रूस में प्रतिष्ठित साम्यवाद और पश्चिम के देशों में फैलता उसका प्रभाव भारतीय जनता के लिए प्रेरणा का केन्द्र था। सन् 1934 ई. में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन हो चुका था। आजादी के बाद भी राजनीतिक दासता पूँजीवाद और सामंतवाद को बढ़ावा दे रही थी। शोषण का चक्र अनवरत् चल रहा था। सामान्य जनता भूख, गरीबी, अशिक्षा, अकाल एवं बेरोजगारी से पीड़ित थी। चुनी हुई प्रजातांत्रिक सरकार भी शोषण, स्वार्थी, स्वकेन्द्रित, जर्जर व्यवस्था और पूँजीपतियों पर लगाम नहीं लगा पा रही थी। इस तत्कालीन राष्ट्रीय परिदृश्य में प्रगतिवादी साहित्य ने शोषण का विरोध किया और किसानों एवं मजदूरों के संघर्ष को बल प्रदान किया। प्रगतिशील साहित्य प्रगतिशीलता को आत्मसात् कर व्यक्ति केन्द्रित आत्माभिव्यक्ति से निकलकर जनजीवन के सामाजिक यथार्थ से जुड़ी। धरती के यथार्थ तथा जनजीवन और उससे जुड़े सुख-दुःख की अभिव्यक्ति प्रगतिशील साहित्य में सच्चे अर्थों में हुई। ऐसे राष्ट्रीय परिदृश्य में हिमांशु श्रीवास्तव की प्रगतिशीलता अविस्मरणीय है।

हिमांशुजी ने गुलाम भारत से लेकर आजाद भारत तक की लंबी यात्रा की है और उन्होंने बदलती परिस्थिति में भी निम्नवर्गीय भारतीय जनजीवन के यथार्थ रूप की अभिव्यक्ति दी है। दलित वर्ग दो रोटों की जुगाड़ में गांव से लेकर शहर तक की यात्रा करता है और संघर्ष करता है, लेकिन उसके संघर्ष को

कोई सम्मानजनक स्वीकृति नहीं मिलती है। 'लोहे के पंख' नामक उपन्यास में उन्होंने एक दलित परिवार की स्थिति का वर्णन किया है कि गाँव के अन्य वर्ग के लोग उस परिवार का शोषण करते हैं। छोटी-छोटी गलतियाँ होने पर उन्हें बेरहमी से पीटा जाता है। इस उपन्यास का नायक झगडू खेखर काका से कहते हैं: "दुःख न मानना खेखर भाई, मैं तो शहर में रहकर अंखफोर हो गया हूँ। तुम्हें तो याद होगा, मेरी पलानी का एक कोना बांस के सड़ जाने से गिर रहा था। उनकी कोठी से एक बांस काटते हुए पकड़ा गया तो बांधकर पिटवाया था। वह चोट मुझे भूलती है।"¹¹

हिमांशुजी ने अपने उपन्यास 'नई सुबह की धूप' में भी तत्कालीन समस्याओं पर प्रकाश डाला है। मुनिया का विवाह एक अंधेड़ के साथ कर दी जाती है। समाज में फैली गरीबी भ्रष्टाचार और दहेज प्रथा की ओर उपन्यासकार की टिप्पणी है: "मुनिया के लिए मिलता लड़का तो था लेकिन किसी को साइकिल चाहिए, घड़ी चाहिए थी, रेडियो चाहिए था, सूट सिलवाने के लिये नफीश कपड़े चाहिए थे और इन सबके अलावे हजार दो हजार से पांच हजार तक कैश चाहिए था।"¹²

इसी तरह दहेज प्रथा जैसे अभिशाप को हिमांशुजी ने 'पिछली रात का अंधेरा' नामक उपन्यास में मुख्य कथा वस्तु के रूप में रखा है। उपन्यास के नायक सिन्हा साहब की चार बेटियाँ हैं - लाली, शैली, एनी, ब्रेटा। चारों में से किन्हीं की भी शादी नहीं हो पा रही है। सभी अपने प्रेमी के साथ भाग जाते हैं। दहेज प्रथा जैसी कुरीतियों को हिमांशु जी ने उपन्यास के नायक सिन्हा साहब के द्वारा इस प्रकार बयान किया गया है: "तो फिर तुम सिर्फ दूसरों की चिंता से मरी जा रही हो। माना कि गुप्ता साहब से तीस हजार रुपये मिल जायेंगे। मगर दहेज की कौन कहे, इतने रुपयों से तो हम बारात की भी खातिर नहीं कर सकते। मन बहलाने वालों की भी कमी नहीं, मगर किसी ने मुझसे कभी यह नहीं कहा कि आप लाली का ब्याह ठानिए, मैं अपनी ओर से इत्र की दस शीशियाँ लेकर तैयार रहूँगा।"¹³

हिमांशु जी के उपन्यास 'लोहे के पंख' में दिघवारा अंचल के वास्तविक जनजीवन की झलक मिलती है। गाँव के दलित परिवार की दयनीय स्थिति को व्यक्त करते हैं कि वे किस प्रकार ठाकुर के यहां भोज आदि के अवसर पर दूर-दूर से आसरा लगाकर आते हैं कि जुठे पत्तलों से भी कुछ खाने को मिलेंगे। यथा -

"जब कहार जुठे पत्तलों का ढेर लेकर उन्हें फेंकने के लिए बाहर निकलता तो मेरे जैसे जुठे पत्तल कमानेवाला का झूण्ड चिल्ला पड़ता।" इधर किरपा करो मालिक, इधर किरपा करो चार कोस से आसरा लगाकर आये हैं।"¹⁴

हिमांशुजी ने जमींदार, पूँजीवाद और उच्चवर्गीय व्यवस्था का जमकर विरोध किया है। 'नई सुबह की धूप' में एक साहित्यकार के संघर्ष का वर्णन किया है, कैसे समाज के पूँजीपतियों द्वारा उसका शोषण किया जाता है, किस तरह से लोग उसका फायदा उठाते हैं, कैसे योग्यता होते हुए भी उसे नौकरी के लिये सिफारिश की जरूरत पड़ती है और सिफारिश न होने पर उसे नौकरी नहीं मिलती है। समाज में फैले भ्रष्टाचार से त्रस्त होकर वह नौकरी करने का विचार ही त्याग देता है। हिमांशुजी 'नई सुबह की धूप' के नायक जीवन के लिए लिखते हैं : "आज शायद नवीन के इस गुमान को ठेस लगी थी कि इस शहर में उसके कुछ ऐसे दोस्त हैं, कुछ ऐसे परिचित हैं जो उसपर जान देते हैं और वह जो कुछ लिखता, उसकी कद्र करते हैं। वे अपनी कुर्सी उसके आगे खींचकर नहीं पूछते-नवीन बाबू ये तो काव्य साहित्य की बातें हुई, अब यह बतलाओं कि तुम्हारा घर संसार कैसे चल रहा है?"¹⁵

इस उपन्यास में एक साहित्यकार के दर्द और बेचैनी को पूँजीवादी समाज, भ्रष्टाचार के संदर्भ में खूबसूरती से उभारा गया है।

हिमांशुजी 'लोहे के पंख' में अमीर और गरीब के बीच की खाई को इस प्रकार व्यक्त करते हैं -

“सो तो है बाबाजी, वे लोग किसी गरीब की ओर फूटी आंखों से भी देख ले तो।”⁶
 “मालिक लोग जैसे है जानते ही हो। तोप के मुँह पर खड़ा रहना और इस गाँव में बसना दोनों बराबर है। खस्सी की माँ चाहे जितनी भी खरजिउतिया करे, खस्सी चिक के हाथ से भला कबतक बचेंगे।”
 “हिमांशुजी अपने उपन्यासों में सामाजिक बुराई के साथ-साथ व्यवस्था की खामियों को भी उजागर करते हैं। 'नई सुबह की धूप' में हिमांशुजी ने भ्रष्ट शासन की स्थिति को इस प्रकार व्यक्त किया है। “नवीन को न तो हिन्दी विकास समिति में नौकरी मिली और न राज्य सरकार द्वारा संचालित राजभाषा बोर्ड में। राजभाषा बोर्ड में चार अनुवादकों के पद के लिए विज्ञापन निकला था, नवीन बाबू ने वहाँ भी आवेदन दिया था, लेकिन उस विभाग के मंत्री के पास स्वयं अपने चार उम्मीदवार थे। अतः उनके सिवा कोई नहीं लिया गया।”⁸ हिमांशुजी ने व्यवस्था की घूसखोरी को इस प्रकार व्यक्त करते हैं:

“मैंने 35 इन्स्पेक्टरों का कोटा आपके विभाग में रखा है। इनके लिए मात्र दस हजार। कौन दौड़-कुदान-उछाल में सफल और असफल होता है, इसके चक्कर में नहीं पड़ना है।”⁹

हिमांशुजी ने तत्कालीन सरकार पर भी टिप्पणी की है। सेक्षन आफिसर कहता है : “घूसखोरों का मुकदमा घूस देने पर उठ जाता है फिर भी हम कहते हैं कि हमारे मुल्क में जनतांत्रिक ढंग की चुनी हुई सरकार है।”¹⁰

हिमांशुजी समाज के जमींदार, ठाकुर, सामंत की पोल राज बहादुर पर टिप्पणियों से खोलते हैं: “राज बहादुर, जो रोशनी में हिरण और अंधेरे में शेर था। जो परदे पर सत्यवादी हरिश्चन्द्र था और परदे के पीछे काशी का डोम राजा।”¹¹

हिमांशुजी ने वर्तमान व्यवस्था विरोध, पूँजीवाद की खात्मा, सर्वहारा संघर्ष और मजदूर आन्दोलन को अपने उपन्यास में जगह दी है। 'नई सुबह की धूप में' पूँजीवाद की खात्मा के लिये वे मजदूरों के एक हो जाने की बात करते हैं। “अमला ने दबी जबान में समर्थन किया। जरूरत इस बात का है कि दुनिया के सारे मजलूम-मजदूर एक हो जाये, पूँजीवाद के खिलाफ एक जूट हो जाये। फ़ैक्टरियों में यह सब देखने को मिलता है।”¹² इसी तरह 'लोहे के पंख' में रतननगर के फ़ैक्टरी के मजदूर हड़ताल में चले जाते हैं। धारा 144 लागू कर दी जाती है। मजदूर का शोषण तब भी नहीं रूकता है और हड़ताल को नाकाम कर दिया जाता है। इसी तरह हिमांशुजी के उपन्यास 'मन के वन में' में भौतिकवादी सभ्यता की कृतघ्न मनोवृत्ति का उद्घाटन किया गया है।

निष्कर्षतः डा. श्री रंजन सूरिदेव जी ने हिमांशुजी के उपन्यासों के बारे में कहा है “कल्पना की सबलता के धनी औपन्यासिक श्री हिमांशु श्रीवास्तव वर्तमान युग की उन विसंगतियों के निपुण चित्रकार हैं, जो सामान्य दृष्टि से तो गौण प्रतीत होते हैं, किन्तु बारीकी से देखने पर वे ही समाज की व्यवस्था को जर्जर कर देने वाले प्रमुख कारण मालूम पड़ते हैं।” हिमांशु श्रीवास्तव सच्चे अर्थों में प्रगतिशील विचारों के वाहक हैं, उनके उपन्यासों में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा है और सामाजिक समस्याओं के निदान के लिए चिंतन का भाव है।

संदर्भ :

1. हिमांशु श्रीवास्तव : लोहे का पंख, प्रचारक बुक क्लब, बनारस, 1976, पृष्ठ संख्या 28
2. हिमांशु श्रीवास्तव : नई सुबह की धूप, राका प्रकाशन, इलाहाबाद 1985 पृष्ठ संख्या 33

3. हिमांशु श्रीवास्तव : पिछली रात का अंधेरा, निधि प्रकाशन, नई दिल्ली 1980 पृष्ठ संख्या 19
4. लोहे का पंख : पृष्ठ संख्या 19
5. नई सुबह की धूप : पृष्ठ संख्या 78
6. लोहे के पंख : पृष्ठ संख्या 03
7. वही, पृष्ठ संख्या 04
8. नई सुबह की धूप, पृष्ठ संख्या 108
9. वही, पृष्ठ संख्या 121
10. वही, पृष्ठ संख्या 165
11. वही, पृष्ठ संख्या 32
12. वही, पृष्ठ संख्या 46



यथार्थवादी उपन्यासों में स्त्री विमर्श

- सुधा बाला

साहित्य की विभिन्न विधाओं के बीच उपन्यास की उपस्थिति एक ऐसे व्यक्तित्व के रूप में है जो किसी सभा-समाज का केन्द्र बिन्दु हो। ऐसे व्यक्तित्व के ईर्द-गिर्द जैसे उस समाज की गतिविधियाँ सम्पन्न होती हैं, उपन्यास भी उसी रूप में हमारे साहित्य के केन्द्र में है। जीवन की विभिन्न भाव-भंगिमाएँ, आचार-व्यवहार, उतार-चढ़ाव, आदर्श, यथार्थ की जैसी सम्पूर्णता हमें उपन्यास में दृष्टिगोचर होती है वैसे सम्भवतः साहित्य की किसी अन्य विधा में नहीं। हिंदी उपन्यास की यात्रा भारतेन्दु-काल से शुरू होकर आज उत्तर आधुनिक काल तक पहुँच चुकी है। इस बीच उसने अनेक उतार-चढ़ाव देखे, अनेक रूप को अपनाया, कथ्य और शिल्प की विविधता से अपने को सम्पन्न बनाया।

आज नई सदी के प्रारम्भ में जब उपन्यास विधा पर दृष्टि जाती है तो अनेक वैचारिक आन्दोलनों से प्रभाव ग्रहण करने वाली यह विधा नारी-चेतना से अपने को पूरी तरह समाविष्ट कर लेती है। बीसवीं सदी के अंतिम समय में जिस नारी चेतना का आविर्भाव होता है वह आकस्मिक नहीं है वरन् इसका क्रमिक विकास होता है। विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों में नारी की सक्रिय उपस्थिति ने साहित्यकारों को उनके महत्त्व को स्थापित करने के लिए प्रेरित किया। “बीसवीं सदी के अंतिम 25-30 वर्षों में भारत में जो स्त्री-चेतना गतिशील हुई, इक्कीसवीं सदी की संधि तक पहुँचते-पहुँचते एक विमर्श के रूप में परिवर्तित हो चुकी थी। इस समय में हिन्दी उपन्यास भी अपनी विधागत शक्ति को पहचानते हुए और इस दिशा में सक्रिय उपस्थिति दर्ज कराते हुए इस स्त्री चेतना को स्वर प्रदान करने में अपनी भूमिका के निर्वाह में पीछे नहीं रहा।¹

स्त्री विमर्श पर चर्चा के क्रम में यह बात महत्त्व की है कि स्त्री-विमर्श मात्र स्त्री की मुक्ति या पुरुष की बराबरी भर नहीं है, वरन् स्त्री विमर्श से तात्पर्य नारी की अस्मिता, उसकी चेतना, उसके स्वाभिमान से है। सदियों से प्रताड़ित होने वाली नारी आज अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए किसी से भी टक्कर लेने को तैयार है। वह आज अधिकार सजग हो गई है। आज स्त्री मात्र देह भर नहीं है। सदियों से अपनी देह पर हो रहे अत्याचार को अब वह बर्दाश्त करने की स्थिति में नहीं है। अपनी भूमिका को वह नए सिरे से निर्धारित करने की चेष्टा में लगी है।” स्त्री विमर्श उत्तर-आधुनिकता की धुरी पर खड़ा एक सशक्त साहित्यिक विमर्श है। उत्तर आधुनिकता ने स्त्री के जीवन और चिंतन को विशेष रूप से प्रभावित किया है। परिणामस्वरूप सदियों से हाशिए पर खड़े स्त्री और दलित- ये दो वर्ग अब चर्चा के केन्द्र में आने लगे हैं। समाज में पूर्व प्रचलित पुरुष प्रधान प्रणाली का ह्रास उत्तर-आधुनिकता की पहचान है।²

भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा को लेकर प्रारम्भ से ही विचार मंथन शुरू हो चला था। हमारे पौराणिक धर्मग्रंथों में सीता, द्रौपदी, गांधारी आदि का चरित्र हमें यह सोचने को बाध्य करता है कि एक सीमा तक ही स्त्रियाँ अन्याय सहन करती हैं। भक्तिकाल की मीराबाई ने सामन्ती परिवार की जकड़न

से अपने को मुक्त किया था। 1884 में अज्ञात एक हिन्दू लेखिका ने “सीमंतनी उपदेश लिखकर” हिन्दू स्त्रियों की मुक्ति की लड़ाई लड़ी थी। आधुनिक मीरा कही जानेवाली महादेवी वर्मा ने भी शृंखला की कड़ियाँ लिखकर स्त्रियों को आत्मविश्वासी एवं आत्मनिर्भर बनने की सलाह दी थी। मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद, प्रसाद आदि सजग कलाकारों ने अपने साहित्य द्वारा स्त्री-महत्ता को प्रतिष्ठापित किया। “आज जो लेखिकाएं स्त्री-विमर्श और नारी मुक्ति की बातें करती हैं, तो उस विमर्श की जमीन हमारे कुछ पुरुष रचनाकारों और स्त्री लेखिकाओं ने पहले ही तैयार की है। यशपाल ने ‘दिव्या’ उपन्यास और भगवती चरण वर्मा ने ‘चित्रलेखा’ में, स्त्री की, दी गई सहिताओं और रूढ़ नैतिकताओं को उलांघ कर, अपने नियम आप बनाने वाले सशक्त स्त्री चरित्र रचे।”³

महिला लेखन की व्यवस्थित रूप से शृंखलाबद्ध शुरुआत स्वतंत्रता के बाद हुई। इस समय लेखिकाओं ने कथा साहित्य को पुरानी रोमानी दुनिया से बाहर निकालकर यथार्थ की भावभूमि पर खड़ा किया। वैसे तो 1975 में “अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष” मनाया गया और 1975 से 1985 तक का कालखंड “अन्तर्राष्ट्रीय महिला दशक” कहलाया। इसी पृष्ठभूमि में हिन्दी साहित्य में नारी विमर्श की शुरुआत हुई। इस युग के महिला लेखन में अस्मिता की तलाश का स्वर अधिक मुखरित है। लेखन के माध्यम से लेखिकाओं की बड़ी संख्या अपनी पहचान की तलाश कर रही थी। बिना किसी बाहरी दबाव के अपनी आन्तरिक ऊर्जा के बल पर स्त्रियों ने अपनी महत्ता स्थापित करने की कोशिश की। इनके लेखन में जीवन का सम्पूर्ण जगत मुखरित हो उठा है।

“बीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर के उपन्यास में नारी परिवार की संस्था की चुनौती देती हुई, महत्वाकांक्षा के सपनों को संजोती हुई, अपने नैसर्गिक विकास को अवरुद्ध करने वाली सामाजिक वर्जनाओं को तोड़ती, आर्थिक रूप से स्वतंत्रता प्राप्त करती तथा स्त्रियों की पारम्परिक भूमिका से भिन्न खड़ी अपनी अलग जमीन तलाशती स्त्री के रूप में हमारे सामने आती है। ये उपन्यास स्त्रियों की पारम्परिक भूमिका से इतर एक व्यक्ति नारी की प्रतिष्ठा करते हैं, जो अपने व्यक्तित्व से अथाह प्रेम करती है और उसे कहीं कुठित नहीं होने देती।”⁴

उपन्यास लेखन के क्रम में महिलाओं ने यथार्थ के अनछुए पहलुओं को बड़े साहस के साथ उपस्थित किया। घर-बाहर प्रत्येक जगह महिला होने के कारण स्त्रियों को अनेक विसंगतियों का सामना करना पड़ता था। जो बातें दबी-ढकी रहकर उनमें हीनता का बोध पैदा करती थी, स्त्रियों ने बड़े साहस के साथ उन्हें उपस्थित किया। इस साहस ने स्त्रियों के लेखन को उत्कृष्ट बनाया, परिणामस्वरूप स्त्री और पुरुष लेखन का भेद मिट गया बल्कि कई जगहों पर वह पुरुष लेखकों को चुनौती देता भी प्रतीत होता है। प्रारम्भिक स्त्री लेखिकाओं- चन्द्रकिरण सोनरेक्सा, उषाप्रियंवदा, मन्नु भंडारी, शशिप्रभा शास्त्री आदि के उपन्यासों में स्त्रियों का बदलता स्वरूप जरूर हमारे सम्मुख आता है, पर पुरुषों के गढ़ को तोड़ने में वे सफल नहीं हो पातीं, घर-परिवार उनका भले ही टूट जाता है।

स्त्री-विमर्श की साहसिक पहल करनेवाली लेखिका है कृष्णा सोबती। इनके उपन्यास ‘दिलों दानिश, मित्रों मरजानी, सूरजमुखी अंधेरे में, यारों के यार और जिन्दगीनामा आदि स्त्री के संघर्ष को बल देते हैं’। इस संघर्ष को धार देते हुए आगे बढ़ाने का कार्य करती हैं नासिरा शर्मा, चित्रा मुद्गल, मंजुल भगत, प्रभा खेतान, गीतांजलि श्री आदि ये नई ऊर्जा से संकल्पित लेखिकाएं हैं।

नया स्त्री लेखन स्त्री-संवेदना की बनी-बनाई लीक को तोड़ने के साथ-साथ एक नई परम्परा भी गढ़ रहा था। इस दौर के उपन्यासों में स्त्री का एक नया संघर्षशील रूप उभरकर सामने आ रहा था जो स्त्री-मुक्ति के नए-नए औजार खोज रहा था। चित्रा मुद्गल का ‘आवां’, ‘एक जमीन अपनी’, नासिरा

शर्मा का 'ठीकरे की मंगनी', मैत्रेयी पुष्पा का चाक, इदन्नमम, प्रभा खेतान का छिन्नमस्ता और पीली आंधी', गीतांजलिश्री का भाई और हमारा शहर आदि आज के सामाजिक यथार्थ और अनबूझ सवालों से टकराने वाले उपन्यास हैं।

आवां सिर्फ एक नायिका प्रधान उपन्यास नहीं है वरन् स्वतन्त्र भारत की स्त्री-चेतना में निरंतर आ रहे बदलावों का महावृतांत है। इसका वृत्त इतना बड़ा है कि उसमें समकालीन महानगरीय स्त्री के लगभग सभी रूप तो समा ही गए हैं। इस उपन्यास को लिखने की प्रेरणा चित्रा मुद्गल को मुम्बई में लिए हुए अपने युवा जीवन से मिली। श्रमिक आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर रचित यह उपन्यास वास्तव में औरत के वजूद को, उससे जुड़े सवालों को प्रमुखता देता है। नमिता पांडे की कहानी मात्र कहना लेखिका का उद्देश्य नहीं है, वरन् स्त्री की क्षमता को उसकी देह से ऊपर उठकर स्वीकार न करने वाले रूढ़, रूग्ण समाज को झकझोर कर जगाना है। "पूरी दायित्व चेतना के साथ, खतरों के पूरे अहसास के साथ उन्होंने औरत के इस नरक को उधेड़ा और उजागर किया है और औरत की इस नरक से मुक्ति की बात, देह से ऊपर उसे पहचाने जाने का सवाल तेज-तरार नारेबाजी करके नहीं, मुक्ति की इस राह के सारे अवरोधों, परम्परा से चली आ रही संस्कार बद्धता, गुलामी के सुख के सम्मोहन में फंसी औरत की जिन्दगी की अपनी विडम्बनाओं की पूरी समझ के साथ ऐसे चरित्रों को रच और सिरज कर किया है जो इस नरक को उसकी पूरी भयावहता और पूरे ताम-झाम से साथ उघारते और बेनकाब करते हैं।"⁵

प्रभा खेतान ने 'छिन्नमस्ता' और 'पीली आंधी' उपन्यासों में पुरुष की रूग्ण मानसिकता के खिलाफ आवाज उठाई है। इसके साथ उन्होंने औरत की आर्थिक स्वतंत्रता को उसकी मुक्ति का प्रमुख आधार माना है। छिन्नमस्ता की नायिका 'प्रिया' समाज द्वारा थोपे गए मानदंडों को स्वीकार करने में विश्वास नहीं करती। आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया यह उपन्यास एक उच्चवर्गीय सुशिक्षित, स्वाभिमानी, आत्मनिर्भर नारी की कहानी है जो अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए पारम्परिक पारिवारिक व्यवस्था को चुनौती देती है। उसे किसी का न भय है न किसी की कृपा दृष्टि ही उसे चाहिए। अपने स्वावलम्बन के लिए वह पति तक से अलग हो जाती है। "आज की स्त्री अपना अधिकार स्वयं हासिल करने के लिए अपना भाग्य आप निर्मित करने के लिए संघर्ष कर रही है। यही प्रभा खेतान के उपन्यास 'छिन्नमस्ता' का विषय है।"⁶

"पीली आंधी" में पुरानी पीढ़ी की स्त्री ने भले ही अपने अरमानों का गला घोट डाला लेकिन नई बहू के साथ उसे पूरी हमदर्दी है। वह अपने समान उसे घुट-घुट कर जीने नहीं देती, वरन् उसकी उड़ान में पूरा सहयोग करती है। पारिवारिक मर्यादा के नाम पर यों ही तिल-तिल कर मरने देने में उसे विश्वास नहीं। इस रूप में लेखिका ने नई पीढ़ी के साथ पिछली पीढ़ी के यथार्थ को भी सामने रखा है जिसे अपने साहस को संजोने में दो पीढ़ियों तक इन्तजार करना पड़ा।

'मुझे चांद चाहिए' सुरेन्द्रवर्मा का चर्चित उपन्यास है जिसकी नायिका अपने वंशगत सारी परम्पराओं को तोड़ने में विश्वास करती है। अपने 'सिलबिल' नाम के बदले वर्षा के रूप में वह अपनी पहचान स्थापित करना चाहती है। वह एक महत्वाकांक्षी युवा नारी है जो सारे अवरोधों से टकराकर सफलता के शिखर पर पहुंचना चाहती है। इस क्रम में वह टूटती छीजती भी है लेकिन हार नहीं स्वीकारती।

मृदुला गर्ग का उपन्यास 'कठगुलाब' भी स्त्री-विमर्श की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इसकी नायिका स्मिता 'कठगुलाब' को अपने व्यक्तित्व का पर्याय समझती है। बचपन में जिस प्रकार कठिनाई से उसने कठगुलाब को उगाया था उसी भांति विभिन्न कठिनाईयों का सामना करते हुए उसने अपने

व्यक्तित्व को तराशा है। इस उपन्यास में विभिन्न वर्ग की स्त्रियों के माध्यम से लेखिका ने यह बताने की कोशिश की है कि “पुरुष मानसिकता की शोषक नीतियों और स्त्री देह-मन के प्रति हिंसक रवैये पर लगाम न दी गई तो, हो सकता है, विरोध में एक दिन स्त्री संतानोत्पत्ति से भी इंकार कर दे। जिस तरह पर्यावरण की उपेक्षा और दोहन से सूखा, बाढ़ और भूकम्प जैसी विनाशकारी स्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं, कहीं उसी प्रकार पुरुष की हिंसक वृत्तियाँ, स्त्री की देह की छीलन के साथ उसके मन के तरल स्रोत सुखाकर उसे बंजर न बना दे।”⁷

‘एक पत्नी के नोट्स’ दाम्पत्य सम्बन्धों के पुनर्परीक्षण की मांग करने वाला ममता कालिया का महत्वपूर्ण उपन्यास है। पति-पत्नी का सम्बन्ध अगर सिर्फ देहाधारित होगा तो उसका टूटना तय है। जीवन में आन्तरिक लगाव ही पति-पत्नी के सम्बन्ध की मजबूत आधारशिला होनी चाहिए।

चन्द्रकांता के उपन्यास ‘अर्थांतर’ की नायिका अपने पति की हर गलती को माफ करने की स्थिति में नहीं है। वह मात्र एक वस्तु के रूप में अपने को स्थापित नहीं करना चाहती। पति-पत्नी का सम्बन्ध समानता पर हो, यह उसकी आकांक्षा है।

यह हिन्दी साहित्य के लिए सुखद संयोग की बात है कि “विश्वकथा साहित्य की तर्ज पर नारी चेतना के सशक्त तेवरों की अनुगूँज इधर के हिन्दी उपन्यासों में अत्यन्त प्रभावी ढंग से हुई है। ये उपन्यास पितृसत्तात्मक भारतीय समाज में नारी की उस अभिशप्त नियति को रेखांकित करते हैं जिनका दायरा दैहिक, भावनात्मक एवं आर्थिक शोषण तक विस्तृत है। इस संदर्भ में कृष्णा सोबती, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल, प्रभा खेतान, नासिरा शर्मा व गीतांजलि श्री की औपन्यासिक कृतियाँ विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती हैं। अपने उपन्यासों के माध्यम से इन लेखिकाओं ने जहाँ नारीवादी लेखन की सार्थकता को रेखांकित किया है वहीं पुरुष लेखन की उस सीमा को भी उजागर किया है, जो अपने सारे नेक इरादों के बावजूद पुरुष-दृष्टि से उबर नहीं पाते।”⁸

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बीसवीं सदी के अंतिम समय में लिखे गए उपन्यास नारी-विमर्श को पूरी सार्थकता और निष्ठा के साथ प्रस्तुत करते हैं। इसमें नारी के परम्परागत रूप से भिन्न व्यक्तित्व-सजग नारी का चित्रण है जो विकास की असीम सीढ़ियों पर चढ़ने की आकांक्षा पालती है। नारी के रूढ़िवादी स्वरूप से भिन्न यहाँ ऐसी नारी उभर कर हमारे सामने आती है जो अपने अधिकारों के लिए लड़ती है, अपने व्यक्तित्व को सीमित करनेवाली हर व्यवस्था से लोहा लेने की उसमें क्षमता है। अधिकार सजग, चेतना सम्पन्न, उन्मुक्त दृष्टि एवं असीम संभावनाओं को अपने में समेटे ऐसी ही नारी, स्त्री-विमर्श के केन्द्र में है।

संदर्भ :

1. आजकल, मार्च 2014, पृ. 24, जितेन्द्र वीर कालरा का लेख।
2. आजकल, मई 2008, पृ. 33, सुधा. बी. का लेख।
3. आजकल, मार्च, 2014 पृ. 21, चंद्रकांता का लेख।
4. आजकल मार्च 2014, पृ. 24.
5. आधुनिक हिन्दी उपन्यास-2, पृ. 152, शिवकुमार मिश्र का लेख।
6. आधुनिक हिन्दी उपन्यास-2, गोपाल राय का लेख, पृ. 344.
7. आजकल, मार्च 2008, पृ. 19, चंद्रकांता का लेख।
8. आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ. 19, वीरेन्द्र यादव का लेख।



प्रेमचंद की वैचारिक प्रतिबद्धता और उनका साहित्य

– राकेश कुमार सिंह

लेखकों की रचनाएँ उनकी विचारधारा से प्रभावित होती हैं। सबों की अपनी-अपनी प्रतिबद्धता होती है। यह प्रतिबद्धता ही उनकी रचनाओं को विशिष्ट बनाती है। यह प्रतिबद्धता प्रेमचंद के वैयक्तिक जीवन और उनकी रचनात्मक संसार में भी दिखती है। वास्तविक जीवन में वे युग-जीवन की वास्तविकताओं के भुक्तभोगी थे। उनका जन्म ग्रामीण अंचल में हुआ था। परिवार मध्यमवर्गीय था। जिस वातावरण वे पैदा हुए, पले-बढ़े, वह घोर अभाव का वातावरण था। गरीबी चारों ओर पैर फैलाए विराज रही थी। अशिक्षा ने पराकाष्ठा के आगमन-पथ को रोक रखा था। महाजनों और जमींदारों के शोषण एवं अत्याचार से पूरा ग्रामीण अंचल भयाक्रांत हो उठा था।

“प्रेमचंद को बाल्यावस्था से ही न केवल कृषक जीवन के वातावरण से परिचय प्राप्त हुआ, वरन् निम्न मध्यम वर्गीय परिवार में पालित-पोषित होने के कारण जीवन की कठिनाईयों का भी अनुभव हुआ और विपत्तियाँ झेलने की शक्ति प्राप्त हुई।” (हिन्दी साहित्य कोष)

बचपन से ही उन्हें जीवन संघर्षों से सामना करना पड़ा था। वे जीवन-पर्यंत कंटकपूर्ण एवं उबड़-खाबड़ मार्ग से गुजरते रहे। अपने जीवन की वास्तविकताओं को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—
“मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खंडहरों का स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौकीन हैं उन्हें यहाँ तो निराशा ही होगी।”

जीवन के कड़े अनुभव ने उनके विचारों को अंदर तक झकझोर दिया था, अन्यथा बचपन का ‘नवाब’ अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में इतने गंभीर वक्तव्य क्यों देता। उन्होंने रचनाओं के माध्यम से अपने जीवन-सत्य को अभिव्यक्त किया है। वे जीवन-सत्य का अनुसरण करने वाले लेखक थे। उन्होंने जीवनानुभव से परिपुष्ट विचारों को ही रचनाओं में अभिव्यक्त किया है। अपने समय के समग्र जीवन-संदर्भों को बड़ी बेबाकी और संवेदना के साथ उद्घाटित किया है।

भारत के ग्रामीण समाज को उन्होंने नजदीक से देखा था, और देखा था उसकी चेतना को स्पंदनहीन होते। ऐसा मृतप्राय समाज जहाँ व्यक्ति स्वातंत्र्य के लिए कोई जगह नहीं थी। उन्हीं के शब्दों में – *“कितनी बुरी हालत है हमारे हिन्दू समाज की। आदमी को आदमी नहीं समझा जाता। एक आदमी के छू देने से दूसरे आदमी की जात चली जाती है। यह क्या जिन्दा कौमों के लक्षण हैं।”*

उनकी जीवन-दृष्टि पूर्णतः मानवीय थी, जिसमें सामाजिक कट्टरता, अंधविश्वास, वर्ग भेद के लिए कोई स्थान नहीं था। इस संदर्भ में यह भी महत्त्वपूर्ण है कि जिस भारत में उनका जन्म हुआ था, वह भारत गुलाम था। जिस भारत में वे पले-बढ़े और जहाँ पर उन्होंने अपनी अंतिम सांस ली, वह भी

गुलाम भारत था। आजादी के सुखद-स्वप्न को साकार होते उन्होंने नहीं देखा। उन्होंने देखा गुलामी की जंजीर में जकड़े भारतीय मानस को। उन्होंने देखा अंग्रेजी शासन के द्वारा, जमीनदारों के द्वारा, महजनों के द्वारा भोली-भाली ग्रामीण जनता पर होने वाले अमानवीय व्यवहार को। वे राष्ट्रभक्त थे, देश-प्रेमी थे। देश की आजादी और स्वराज्य की स्थापना उनकी मूल चिन्ताओं में थी। देशप्रेम की पवित्र भावना की अभिव्यक्ति उन्होंने 'सोजेवतन' में किया था। गाँधीजी के प्रभाव में आकर आजादी के आंदोलन में उन्होंने सक्रिय भाग लिया परंतु लगता है कि 'सोजेवतन' की जब्ती (?) के बाद अपनी रचनाओं में आजादी के स्वर को सशक्त रूप से अभिव्यक्त नहीं कर सके हैं। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में- "जगह-जगह ऐसा लगता है वे इस ओर बढ़ना तो चाहते हैं लेकिन उनकी व्यावहारिक बुद्धि जैसे रास्ता रोक देती है।" पर शिवकुमार मिश्र का कथन कुछ भिन्न है। उनके अनुसार प्रेमचंद के लिए आजादी का प्रश्न केवल राजनीतिक आजादी से नहीं था। वे लिखते हैं - "प्रेमचंद की अपनी एक परिकल्पना थी, जिसके तहत आजादी की लड़ाई को वे महज राजनीतिक सत्ता-हस्तांतरण से आगे साधारण जनता की आर्थिक और सामाजिक आजादी के सवालियों से जोड़ना चाहते थे।"

कुल मिलाकर उनकी दृष्टि में देश की आम जनता है। उनकी रचनाओं में आम जन की पीड़ा, दर्द, समस्याएँ, बल्कि समग्र-जीवन संदर्भ को वाणी मिली है। 'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' तक एवं 'बड़े घर की बेटा' से लेकर 'कफन' तक में युगजीवन ही बोलता है। प्रेमचंद की रचना-दृष्टि पर डॉ० नगेन्द्र की टिप्पणी है-

"प्रथमतः उन्होंने हिन्दी कथा-साहित्य को मनोरंजन के स्तर से उठाकर जीवन के साथ सार्थक रूप में जोड़ने का काम किया। चारों ओर फैले हुए जीवन और अनेक सामयिक समस्याओं- पराधीनता; ज़मीनदारों, पूँजीपतियों, सरकारी कर्मचारियों द्वारा किसानों शोषण; निर्धनता, अशिक्षा, अन्धविश्वास, दहेज की कुप्रथा, घर और समाज में नारी की स्थिति, वेश्याओं की जिंदगी, वृद्ध-विवाह, विधवा-समस्या, साम्प्रदायिक वैमनस्य, अप्सृश्यता, मध्यमवर्ग की कुंठाएँ आदि ने उन्हें उपन्यास लेखन के लिए प्रेरित किया था। प्रेमचंद ने एक-एक कर बड़ी बेसब्री से इन समस्याओं और जीवन के विभिन्न पहलुओं को अपने उपन्यासों में जगह दिया।"

कथन से स्पष्ट है कि प्रेमचंद के रचनात्मक सरोकार का दायरा काफी विस्तृत है। उनकी रचनाओं में ग्राम-जीवन को अभिव्यक्ति मिली है। नगर-जीवन की कथा ग्रामीण-जीवन की कथा की पूरक बनकर आई है। उन्होंने सामयिक संदर्भों को अपनी रचनाओं में वाणी दी है। फिर भी, समाज में सर्वाधिक उपेक्षित तीन वर्गों-किसान, स्त्री और दलित के प्रति उनमें गहरी संवेदना और सहानुभूति है। ये तीनों वर्ग ऐसे हैं जो लंबे अर्से से समाज में उपेक्षित रहे हैं एवं तत्कालीन समाज में अपने अस्तित्व-रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे हैं। ये तीनों वर्ग अपने तमाम जीवन-संदर्भों के साथ उनके रचनात्मक दायरे में आ गए हैं। जितनी आत्मीयता, सहानुभूति, संवेदना और पक्षधरता के साथ प्रेमचंद ने इनका पक्ष रखा है उतनी हिन्दी के किसी अन्य रचनाकार ने नहीं।

आश्चर्य है की बचपन में अपने अभावों की पूर्ति के लिए 'तिलिस्म-होशरूबा' तथा परियों एवं राजकुमारियों के काल्पनिक किस्से पढ़ने वाले प्रेमचंद अपनी रचनाओं के कथ्य जीवन-यथार्थ में खोजते हैं। अमृतराय का कथन है- "कोई ताकत जो खुद उससे बड़ी थी, उसका हाथ पकड़ कर उसे सामाजिकता के उस रास्ते पर ले गयी जिसे भविष्य में उसका रास्ता बनाना था।" प्रेमचंद ने कथित समस्याओं से ग्रस्त समाज और कौम को निष्प्राण माना था, जैसा कि प्रेमचंद के ऊपर के कथन से स्पष्ट

होता है। उन्होंने समाज और कौम में चैतन्यता लाने के लिए साहित्य को जीवन-यथार्थ से जोड़ दिया। प्रेमचंद की रचनात्मक दृष्टि को स्पष्ट करते हुए अमृतराय ने लिखा है- *“वह ऐसी कहानियां लिखेगा जिन्हें पढ़कर इस मूर्दा समाज में कुछ हरकत पैदा हो। किस्सागोई का फन वह उन पुरानी किताबों से सीखेगा, मगर बात अपनी कहेगा।”*

प्रेमचंद के 56 वर्ष की आयु में उनका रचना-संसार काफी बड़ा हो गया। वे मूलतः कथाकार हैं। यद्यपि निबंधों एवं नाटकों का सृजन भी उन्होंने किया है। उनके रचना-संसार में कुल 12 उपन्यास, 300 से अधिक कहानियाँ, 3 नाटक तथा फुटकर निबंध एवं चिट्ठी-पत्र आते हैं। इन रचनाओं में उनकी विचारधारा सृजनात्मक रूप में पाठकों के बीच आई है। उनकी रचनाओं के अध्ययन-अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि एक रचनाकार के रूप में उनकी विचारधारा निरंतर बदलती रही है। युग-जीवन के यथार्थ ने उनकी विचारधारा को प्रभावित किया। वे अपने साहित्य में आदर्श से यथार्थ की ओर बढ़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः प्रेमचंद ने एक नवीन अवधारणा के साथ साहित्य-रचना के क्षेत्र में प्रवेश किया। अपनी इस अवधारणा को उन्होंने *‘आदर्श-मुख यथार्थवाद’* नाम दिया है। यह उनकी निजी अवधारणा है। उनकी रचनाओं में आदर्श और यथार्थ दोनों ही मौजूद रहते हैं। अपने अंतिम उपन्यास *‘गोदान’* में भी, जिसे आलोचकों ने उनकी यथार्थ-दृष्टि की अंतिम परिणति माना है, आदर्श का साथ वे नहीं छोड़ पाए हैं। उनकी रचनाओं में एक समानांतरता पाई जाती है। वे अपनी रचनाओं में आदर्श से यथार्थ की ओर बढ़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। उत्तरार्द्ध की रचनाओं में यथार्थ की प्रधानता है। दरअसल उन पर आर्यसमाज, विवेकानन्द, महात्मा गाँधी के विचारों का व्यापक प्रभाव था। इन वैचारिक प्रभावों के अतिरिक्त उनकी स्वयं की भी जीवन-दृष्टि थी। जो आदर्श उन्हें जन्म-जात मिला था, वह अंत तक उनकी रचनाओं में बना रहा। जीवन के सूक्ष्म अनुभवों ने, संसार एवं समाज के निरीक्षण में उन्हें विचार और विचारधारा के स्तर पर निरंतर बदला। यह बदलाव उनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। आदर्शवादी समाधानों की विफलता ने उन्हें यथार्थवाद की ओर उन्मुख किया। आलोचक शिवकुमार मिश्र का कथन है- *“विचारों का यह बदलाव उनकी रचनाओं में बहुत साफ तरीके से झलकता है। उनकी इस विकासशील प्रतिभा का ही प्रमाण है की आरंभ में सुधारवाद के जरिए समाज का नया संस्कार करने वाले प्रेमचंद बाद-बाद तक आमूल और बुनियादी सामाजिक रूपांतरण की सोच तक आ जाते हैं।”*

कहना न होगा कि प्रेमचंद ने कथा-साहित्य को व्यापक सामाजिक-संदर्भ से जोड़कर उसे हिन्दी गद्य की सर्वाधिक लोकप्रिय एवं स्वीकार्य विधा बना दिया। उन्होंने पहली बार जनसामान्य से निकले पात्र को कथानायक बना कर *‘नायक’* की परम्परागत अवधारणा को बदल दिया। यह प्रेमचंद की देन है कि *हल्कू, होरी, झुरी, घीसू, माधव* जैसे समाज के निम्नस्तरीय पात्र कथानायक बन पाते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में व्यापक मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा कर न केवल अपनी विचारधारा को रचनात्मक रूप दे सके हैं वरन् भविष्य के रचनाकारों को भी एक नवीन जीवन दृष्टि और रचनात्मक दृष्टि दी है। इनके महत्व को रेखांकित करते हुए डॉ० बच्चन सिंह ने लिखा है -

“प्रेमचंद का महत्व तिलिस्म और रोमांस की भूलभूलैया से बाहर निकालकर हिन्दी उपन्यासों को सामाजिक समस्याओं से जोड़ने में है। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने हिन्दी को सही भाषा सही दिशा दी।”

संदर्भ :-

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास (डॉ० नगेन्द्र)

2. हिन्दी साहित्य कोष
3. कहानीकार प्रेमचंद : रचना दृष्टि और रचना शिल्प (शिवकुमार मिश्र)
4. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास (बच्चन सिंह)
5. कलम का सिपाही (अमृत राय)
6. साहित्य का उद्देश्य (प्रेमचंद)



‘मुआवजे’ तथा ‘रंग दे बसंती चोला’ का कथ्य

– टी.टी.अरुणा

भीष्म साहनी मूलतः कथाकार हैं। भीष्म साहनी का रचनाकार व्यक्तित्व बहुआयामी है। हिंदी साहित्य में आत्मबोध के साहित्यकार के रूप में भीष्म साहनी प्रतिष्ठित हैं। उनका जीवन-दर्शन, उनके साहित्यिक मूल्य मुख्यतः मार्क्सवाद और विभाजन के बाद की परिस्थितियों से प्रभावित है। भीष्म साहनी का कथा से नाटक क्षेत्र में पदार्पण करना हिंदी नाटक और रंगमंच की मौजूदा आकर्षक, विकासमान स्थिति का परिणाम है। उनके सभी नाटक अतीत को वर्तमान के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। इसी वैविध्यपूर्ण विन्यास के कारण उनके नाटक सफल और सजीव हैं। भीष्म साहनी के छह नाटक हैं – ‘हानूश’, ‘कबिरा खड़ा बाजार में’, ‘माधवी’, ‘मुआवजे’, ‘रंग दे बसंती चोला’ और ‘आलमगीर’। इन नाटकों के कथानक का ताना-बाना भीष्म जी ने लोककथा, इतिहास और समसामयिक यथार्थ से सामग्री लेकर बुना है। उनका पहला नाटक ‘हानूश’, ‘आषाढ़ का दिन’ के बाद हिंदी रंगमंच का सबसे महत्वपूर्ण नाटक है।

‘मुआवजे’ एक वातावरण प्रधान नाटक है। नाटककार भीष्म साहनी ने इसे नाटक न कहते हुए ‘प्रहसन’ कहा है। इसकी विषयवस्तु के संबंध में स्वयं भीष्म साहनी ने अपने शब्द में लिखा है – यह प्रहसन हमारी आज की विडंबनापूर्ण सामाजिक स्थिति पर किया गया व्यंग्य है। नगर में सांप्रदायिक दंगे के भड़क उठने का डर है। इक्का-दुक्का, छोटी-मोटी घटनाएँ भी घट चुकी हैं। इस तनावपूर्ण स्थिति का सामना किस प्रकार किया जाता है, हमारा प्रशासन, हमारे नागरिक, हमारा धनी वर्ग, हमारे नागरिक, हमारे सियासत दां किस तरह इसका सामना करते हैं, इसी विषय को लेकर नाटक का ताना-बाना बुना गया है।¹

नगर में सांप्रदायिक दंगे के हो जाने के डर से नगर के पुलिस कमिश्नर ने मिनिस्टर साहब के कहने पर दंगे से पहले ही सब इंतजाम कर रखा है। “हमने सब इंतजाम पहले से कर लिया है। मुआवजे का प्रबंध भी कर लिया है। मिनिस्टर साहब ने पाँच लाख रुपए हमें भेजने का वादा किया था, आपको तो मालूम है। फौरी अदायगी के लिए। मरनेवालों के सगे-संबंधियों को मुआवजा देने के लिए। कल्ल किए जाने पर दस हजार, जखमी को तीन सौ, मामूली चोटें आने पर कुछ नहीं, सिर्फ मरहमपट्टी। ऐसा मंत्री जी का हुक्म है। मैं सोमवार को स्कूल बंद करवा रहा हूँ, इसी उम्मीद पर दंगा सोमवार तक हो जाएगा।”² दंगे के दौरान कहीं बाहर जाने की नौबत को सोच-समझ कर मंत्री महोदय अपने सेक्रेटरी से तीन-तीन भाषण जो दंगे के पहले, दंगे के दौरान और दंगे के बाद के लिए तैयार कराकर अपनी आवाज में टेप कराते हैं। ये टेप कमिश्नर को भेजे जाते हैं। सेठ दौलतराम बटन फ़ैक्टरी से जुड़ी सरकारी जमीन

जहाँ निम्नहारा वर्ग के लोग रहते हैं उसे खाली करवाना चाहता है। इसके लिए वह कमिश्नर पर काम करनेवाले गुमास्ता की मदद लेता है। जग्गा नगर का नामचीन गुंडा है, रुपयों के लिए दूसरों को मारने के लिए भी वह तैयार है। नगर में दंगे होने से पहले ही दंगे के खतरे को रोकने के लिए बैठक बुलाई जाती है। मंगल, दीनू और तेजा बसेजगर हैं, उन्हें करने के लिए कहा जाता है। दीनू मुआवजे के पैसे के लालच में मरना तो चाहता है लेकिन व्याह होने के बाद पर बाद में दीनू मरना नहीं चाहता है।

नगर में कर्मचारियों की गलती से मिनिस्टर का बयान, जो दंगे के दौरान का था, दंगा होने से पहले ही मुआवजे के बारे में कहता है। इस गलतफहमी को दूर करने के लिए पुलिस कमिश्नर फिर से मंत्री महोदय की आवाज में बयान टेप करते हैं। लेकिन मंत्री महोदय के दौरे पर होने की वजह से वे सक्सेना की आवाज टेप कराते हैं। सेठ का गुमास्ता जग्गा को पैसे देकर जमीन खाली करने को कहता है, इसके लिए दो-चार लोगों का कत्ल भी कर देने के लिए कहता है। गुंडा जग्गा थाने से पाँच लाख रुपए चुराकर लोगों को पिछला-अगला सब मुआवजा देता है। वह जग्गे से जगन्नाथ चौधरी बन जाता है।

‘मुआवजे’ की नाट्यवस्तु को प्रत्यक्ष देखकर कहा जा सकता है कि नाटककार ने इस नाटक के माध्यम से देश में चतुर्दिक फैली भ्रष्टता, स्वार्थपरता, मानसिक संकीर्णता, नैतिक पतन, वैयक्तिक लोलुपता और उत्तरदायित्वहीनता की भावना को तीव्रता से अभिव्यक्त किया है। प्रत्येक समाज के अपने गुण दोष होते हैं, लेकिन जब वह अपनी सीमा को लांघकर जीवन में उच्छृंखलता की स्थिति उत्पन्न कर देता है तो नैतिक आदर्श का पतन और चरित्रहीनता की पराकाष्ठा हो जाती है। व्यापारी मुनाफाखोरी के लिए दंगे का इंतजाम करते हैं, गुमस्ता रिश्वत खाता है और पेशेवर कातिल दंगे में अपनी कमाई पूरी कर लेता है। राजनीति की हालत इतनी खराब है कि दंगे से पहले ही दंगे की घोषणा करवाकर शांति संदेश का रिकार्ड सारे शहर में घुमा दिया जाता है। इन घटनाओं को नजरअंदाज कर भी दें तो मुआवजा पाने की लालच में एक पत्नी अपनी पति की हत्या होते देखती है यह नैतिकता का चरम है। ऐसा लगता है कि पूरे देश का माहौल ही जैसे सड़कर भ्रष्ट हो गया है।

‘रंग दे बसंती चोला’ भीष्म साहनी का यह नाटक जालियांवाले बाग के जघन्य हत्याकाण्ड की घटना पर आधारित है। नाटक का प्रारंभ अमृतसर के डिप्टी कमिश्नर माइल्स इर्विंग के दफ्तर से होता है। जालियांवाला बाग हत्याकांड के पहले पंजाब में जलसे हो रहे हैं, रौलेट एक्ट पास हो गया है। महात्मा गाँधी इसके खिलाफ लड़ रहे हैं। वह स्वतंत्रता आंदोलन के समर्थक डॉ. किचलू और सत्यपाल के भाषणों से परेशान है। इर्विंग चाहते हैं कि उनको चाहनेवाले राय साहब और रतन बहादुर दोनों उनकी मदद करें। इर्विंग ने दोनों को अंग्रेजी सरकार से खिताब दिलाने का वचन दिया और कांग्रेसी आंदोलन कर्ताओं से समझौता करने का आश्वासन भी दिया। उसी समय पंजाब का लेफ्टिनेंट गवर्नर सर माइकल ओड्वायर प्रवेश करता है। इर्विंग से कहता है कि दूसरे दिन से गाँधी का सिविल डिसेबीडियन्स मूवमेंट शुरू होगा और सारे मुल्क में ‘काला इतवार’ के नाम से जाना जाएगा। वे रौलेट बिल के पास होने की भी बात करते हैं।

गदर पार्टी का मकसद अंग्रेजी कानून को तोड़ना और पंजाब में अमन शांति को कायम करना है। सरकार उनके इरादों को नाकामयाब करना चाहती है। अमृतसर के कांग्रेसी कार्यकर्ता हेमराज और उसकी पत्नी रतन देवी तथा उनकी सहेली इशरो गाँधीजी के आह्वान का समर्थन करती है। रतन देवी और पति हेमराज बहुत खुश हो जाते हैं क्योंकि सारे शहर में हड़ताल सफल हो रही है। उसी समय रतन देवी का इंकलाबी भाई सरदार सोहनसिंह पुलिस से बचने बहन के घर आ जाता है। इतने में हेमराज के

साथी उसे बुलाने आते हैं। हेमराज उनके साथ चला जाता है। इतने में हेमराज के साथी उसे बुलाने आते हैं। हेमराज उनके साथ चला जाता है।

सोहन सिंह अपने दो साथी मेहर सिंह और जोध सिंह की मृत्यु को याद करके फफककर रोने लगता है। उसे “देश को आज़ाद करना हो तो ऐसे ही होगा। जान हथेली पर रखकर चरखा कातने से नारे लगाने से कुछ नहीं होगा। कभी उपवास कर रहा है, कभी प्रार्थना करता है, अंग्रेजों को अपना बाप कहता है, कौम को नपुंसक बना रहा है।”¹³ पूरा शहर हड़ताल करता है और शाम को जालियावाला बाग में विराट जलसा होता है।

पंजाब के लेफ्टिनेंट गर्वनर सर माइकल ओडवायर और जालंधर कमांडर जनरल डायर के बीच के वार्तालाप से स्पष्ट हो जाता है कि इर्विंग समझदार और बुद्धिमान व्यक्ति है। जनरल डायर बड़ा शंकाकुल और क्रुद्ध व्यक्ति होने के कारण पचास लोगों के जलसे में शामिल होने की बात से उग्र हो जाता है। ओडवायर काँग्रेसी लीडरों को शहर से बाहर करने की सोचता है। वह कहता है - “जेल में नहीं डालते हो तो इन्हें शहर से बाहर निकाल दो, अगर ऐसा ही चलता रहा तो हालत पर हमारा काबू नहीं रहेगा। इन दोनों को पकड़कर बाहर भेज दो।”¹⁴ लेकिन इर्विंग इस बात के लिए तैयार नहीं होता। वह सोचता है कि इससे स्थिति और भी बिगड़ जाएगी। इर्विंग दफ्तर में मेसी और प्लोमर के साथ दिन भर की घटनाओं पर विचार करते हैं। कमिश्नर किरचिन यहाँ आने पर प्लोमर किरचिन को सिविल लाइंस के पास पुल पर घटित घटना का ब्यौरेवार वर्णन सुनता है। उनके मतानुसार अमृतसर की बिगड़ी हुई स्थिति को मार्शल लॉ बचा सकता है। वाथुर सबको समझने की कोशिश करता है कि आंदोलनकारी शांतिपूर्ण ढंग से जलसे करते हैं। इर्विंग जब जनरल डायर को समझाते हुए कहता है कि स्थिति काबू में है, तो वह भड़क उठता है, - “कल तक लोग लूटपाट कर रहे थे, घरों को आग लगा रहे थे, मार-काट कर रहे थे। आज वही लोग कानून के वफादार नागरिक बन गए हैं और इसलिए हमें सिर्फ एहतियात के तौर पर कुछ कदम उठाने चाहिए, यही न? स्थिति काबू में है, क्या इसका यही मतलब है?”¹⁵ वाथुर इर्विंग को समझाता है कि सत्ता का उपयोग वहशियाना ढंग से करके लोगों पर काबू नहीं किया जाएगा।

जालियाँवाला बाग में फिर से जलसा होने जा रहा है। वह डायर को कहता है कि “आज बैसाखी का दिन है सर। पंजाबियों का यह बहुत बड़ा त्योहार है। आज के दिन सिख पंथ की स्थापना हुई थी। यही नहीं आज का दिन पंजाब के किसान बड़ी धूम-धाम से मानते हैं जब खेतों में गेहूँ पक चुका होता है।”¹⁶ वह डायर को यह भी जानकारी देता है कि लोग घरों में से बाहर निकलकर बच्चों को बैसाखी के मेल पर ले जाएंगे। उसके बाद सीधे जालियाँवाला बाग में पहुँचेंगे। ‘रंग दे बसंती चोला’ गीत गाया जाता है। जलसे में भाषणकर्ताओं ने जनता के पीछे देखा कि अंग्रेज सेना बंदूकें लेकर खड़ी हो गई है। जनता में कुछ बेचैनी को देखकर उन्हें शांत बैठने को कहा जाता है। ब्रिगेडियर डायर को अपनी इस करतूत पर कभी भी दुख नहीं हुआ, क्योंकि उसे वह अपना फौजी फर्ज मानता था। ‘रंग दे बसंती चोला’ नाटक स्वाधीनता संग्राम के इतिहास से संबंधित है, जिससे जनरल डायर और ऊधम सिंह के परस्पर विपरीत स्वभाव के माध्यम से मानवीय संघर्ष का सहज वातावरण निर्मित हुआ है। जालियाँवाला बाग की घटनाओं से जुड़ा यह नाटक अंग्रेजों द्वारा भारतीयों पर किए गए अत्याचारों तथा अमानुषिक व्यवहारों चित्रित करता है। भारतीय लोगों की देश भक्ति, अहिंसा त्याग और बलिदान को सामने रखने वाला यह नाटक उन अत्याचारों के प्रति आक्रोश उत्पन्न करता है।

भीष्म साहनी के नाटकों की कथावस्तु का समग्र अनुशीलन करने पर यह बात स्पष्टतः विदित

है कि युगीन परिस्थितियाँ और समस्याएँ नाटककार को एक विशेष अनुभूति के क्षण से गुजरने के लिए मजबूर कर देती हैं। भीष्म साहनी का संपूर्ण नाटक साहित्य जटिल नाट्यात्मक स्थितियों, सहज मानवीय संवेदनाओं और अनुभूति की गहराई से अनुप्राणित है। भीष्म साहनी ने अपने नाटकों में कथावस्तु का चुनाव तीनों काल खण्डों से किया है। वस्तुतः उनके नाटकों में आम आदमी के दुःख दर्द और आन्तरिक पीड़ा की सच्ची कहानी चित्रित हुई है। भीष्म साहनी हमारे समकालीन युग के श्रेष्ठ नाटककार हैं। उनके योगदान से हिन्दी नाट्य-साहित्य निरंतर अनुप्राणित हुआ।

संदर्भ :

1. मुआवजे, भीष्म साहनी, पृष्ठ 7
2. वही, पृ. 12
3. रंग दे बसंती चोला, भीष्म साहनी, पृ. 28
4. वही, पृ. 32
5. वही, पृ. 62
6. वही, पृ. 72.

वेदना-विह्वल मन

– अरुणा चौधरी

मनुष्य की आंतरिक व्यवस्था वह विभूति है जो व्यक्ति के चिंतन, चरित्र एवं व्यवहार को परिष्कृत करता है। व्यक्ति को प्रखर, प्रामाणिक एवं व्यवहारवान बनाता है। इस आधार पर वह अपनी क्षमता को अनेक संभावनाओं में ढूँढ़ता है। आत्मबल के आधार पर अनेक शक्तिशाली निर्णय लिए गए हैं और लिया जा सकता है। उपलब्धियों का सदुपयोग किया जा सकता है। परिस्थितियों के प्रतिकूल अनुकूल समय में उत्कृष्टता को आधार मानकर उसे अनुकूल बनाया जा सकता है। इतिहास साक्षी है, कि अनेक कठिन परिस्थितियों से गुजरकर मनुष्य ने अपने व्यक्तित्व के आधार पर अपनी सफलता निश्चित की है। इस प्रकार परिस्थिति एवं उपलब्धियों के आत्म-चेतना का चमत्कार कहा जा सकता है। चिंतन, चैतन्य, चेतना, चरित्र और व्यवहार मनुष्य के सामाजिक जीवन की बड़ी शक्ति है जिसका व्यवहार ईश्वरीय परिकल्पना में स्थापित है। और मनुष्य की बुद्धि कौशल का परिणाम भी इसमें निहित है।

अब तो पुरानी हो चुकी, 16 दिसम्बर 2012 की वह घटना मनुष्य की उस चेतना शक्ति का दुष्परिणाम है जो संपूर्ण मानव जाति के (स्त्री-पुरुष सभी) समूह को विचलित कर दिया था। नीति-नियंता की परिक्रमा का चिर-परिचित व्यवहार अनुरूप की अमानवीय रचना के व्यवहार का दुष्परिणाम मिला। अपने संस्कार से मिथिला में जो बात कफी प्रचलित है कि 'बेटी बचपन से ही अत्यंत बुद्धिशालिनी मानी गई है। किंतु इस प्रकार की देशव्यापी घटना मानवता के चिंतन, चरित्र और व्यवहार को हिला कर रख दिया। ऐसी घटना में जनआक्रोश इस प्रकार फूटा कि राजनीति का नेतृत्व करने वाले को हिला कर रख दिया। यह घटना सभी लोगों के लिए अप्रत्याशित था। जिसका परिणाम हुआ कि बिना किसी संगठन और नेता के नेतृत्व के ही हजारों लाखों लोग अपनी इच्छा से विभिन्न गाँव-शहर, नगर-महानगर की घरों से बाहर निकल गली-रास्ता से निकल कर राजपथ पर एकत्रित होकर अनियंत्रित हो गए। यह कोई संगठित जनसमुदाय नहीं था, इसकी कोई स्पष्ट कानूनी माँग नहीं थी, इसका कोई केन्द्रीय नेतृत्व नहीं था और ना ही कोई प्रशासनिक अधिकारी इस कार्य के लिए नियुक्त था जो इन समस्याओं को कानूनी हक दिलाने में मदद करता है। इस अनियंत्रित संगठनात्मक भीड़ में युवा-नौजवान ही अधिक ही थे। जो अपनी बात मनवाने के बदले आक्रोश और दुःख की अभिव्यक्ति कर रहे थे। यह समुदाय मात्र भावना से चलने वाला समुदाय था। जिसके लिए भावनात्मक आश्वासन की आवश्यकता थी। सत्ताधारी लोगों को यह समझना आवश्यक था जो मेरे दुःख आक्रोश को समक्ष कर उसका साथ दे। इस भावना को ना ही प्रशासन समझ सका और ना ही राजनीतिक नेतृत्व। इस जघन्य अपराध के दिन-सप्ताह बीत गए तथापि घर-कार्यालय-भवन में बैठने वाले राजनीति नेतृत्व और प्रशासन इस आक्रोश और क्षोभ का अनुभव नहीं कर सके। इसके बदले सड़क पर उतरे प्रदर्शनकारियों पर लाठी चार्ज और धारा 144 निर्धारित करते अपनी तुगलकी तरीका का

प्रयोग किया। इस भावनात्मक कार्य को सम्पादित करने हेतु अत्यंत सतर्कता की आवश्यकता थी और वह थी कि इस भीड़ में घुसे उपद्रवी और हिंसक तत्वों को आसानी से पहचान कर उसे अलग किया जा सकता था और सामान्य जनता द्वारा किया जा रहा शान्तिपूर्ण प्रदर्शन को इस प्रकार की घटना से बचाया जा सकता था।

घटना का क्रम था अमानवीय सामूहिक दुष्कर्म की शिकार तेइस वर्षीय फिजियोथेरेपिस्ट छात्र दामिनी के साथ इस प्रकार अमानुषिक कुकृत्य के पश्चात गम्भीर हालत में 16 दिसम्बर रविवार को रात्रि 9 बजे के बाद महिपालपुर दिल्ली से पी.सी.आर. बैन में लेकर पुलिस सफदरगंज अस्पताल पहुँची और वहाँ पर उसकी विभिन्न प्रकार की शल्य चिकित्सा की गई। किन्तु स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए डॉक्टरों की टीम ने उसे सिंगापुर के एलिजाबेथ अस्पताल में भर्ती कराने का निर्णय लिया, जहाँ वह अपनी आन्तरिक अवस्था की विभूति के बल पर जीवन से लड़ते, जीवन से संघर्ष करते शुक्रवार की मध्यरात्रि में वह संसार छोड़ चली।

इस प्रकार की विदाई में मानस दोष और विकृत दुर्गति के भूले रूप को छोड़ा नहीं जा सकता। दुःख सहन हेतु मनुष्य विवश है किन्तु यहाँ पर आत्मचेतना के परिष्कार में सद्गुण की भूमिका को भूला नहीं जा सकता है। वर्तमान समय की चुनौती है कि समाज में चिन्तन की जो प्रक्रिया आरम्भ हुई उसको सही दिशा देने की आवश्यकता है। पुरुष हिंसा की शिकार महिलाओं के लिए तेजी से एवं ठोस न्याय सुनिश्चित करने के अतिरिक्त गाँव-कसबा-नगर या महानगर में रहने वाली कन्याओं एवं महिला की सुरक्षा के उपाय की समीक्षा की जाए, और निर्धारित किया जाए की उसे सुनिश्चित सुरक्षा मिले। गाँव-घर में पोखर, कुँआ, खेत-खलिहान, बाग-बगीचे आदि स्थानों पर महिलाओं के साथ होने वाले दुराचार के साथ उतनी ही सतर्कता और सुरक्षा की व्यवस्था की जाए जिससे महिलाओं के साथ होने वाले अमानवीय व्यवहार से उन्हें बचाया जा सके। ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्र में काम-काजी महिलाओं की परिस्थितियों की समीक्षा की जाए और उनके लिए सुरक्षित सार्वजनिक यातायात की व्यवस्था की जाए। अन्ततः मानसिकता का बदलाव, परिस्थिति से लड़ने की क्षमता का दिशा-निर्देश समाज के हाथ में चला जाता है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि जबतक समाज में पुरुष की मानसिकता नहीं बदलती, तब तक उसका राष्ट्रीय आह्वान 'महिला सशक्तीकरण' पूर्ण नहीं हो सकता है।

परिवार मनुष्य की प्रथम पाठशाला है। इस पारिवारिक पाठशाला के निर्माण में स्त्री की अहम भूमिका रहती है। माँ-बहन-बेटी-नानी-दादी के रूप एक स्वच्छन्द, सुन्दर और सुव्यवस्थित शैक्षणिक वातावरण का निर्माण करती है। जिसमें बच्चे (बेटा-बेटी) सुभ्यस्त, संस्कार और शिष्ट शिक्षा ग्रहण करते हैं। यहाँ हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि स्त्री अपने बच्चों के बाल्यावस्था में लाड़-प्यार, दुलार के साथ ही मानवता की शिक्षा देती रहे। बचपन से उसके मन में हिंसा, अत्याचार, दुष्कर्म आदि को पाप-पुण्य से जोड़ कर कानूनी दण्ड की प्रक्रिया के बारे में जानकारी देती रहे, जिससे बालमन सदैव सतर्क रहे। जिससे वह सावधानी से अपने मानवता के व्यवहार को फलित कर सके। जबतक उसमें मानवता का पाठ स्मरण रहेगा तब तक मुझे विश्वास है कि वह इस प्रकार की जघन्य अपराध करने से दूर रहेगा..... डरा रहेगा।

महिला सुरक्षा हेतु बना कानून में लगभग 36 कानूनी प्रावधान किए गए हैं जिसे सही ढंग से लागू किया जाए तो इस प्रकार की अमानवीय अत्याचारों पर बहुत दूर तक अंकुश लगाया जा सकता है। वैसे महिलाओं के साथ अनेक अपराध जुड़े हैं उसमें विभिन्न अपराधों के साथ अलग-अलग कानूनी प्रावधान है। इससे आई.पी.सी. धारा 376 दण्ड संहिता में बलात्कारी को दण्ड का प्रावधान है - सात

वर्ष की सजा, आजीवन कारावास अथवा दस साल तक सश्रम कारावास। आई.पी.सी. की धारा 509 एवं 354 में भी स्त्री के साथ दुर्व्यवहार की सजा निर्धारित है। भारत में महिलाओं के साथ लगभग प्रत्येक अपराध में अलग-अलग दण्डसंहिता लागू है। उसी प्रकार विदेशों में महिला अत्याचार पर जबरदस्त कानूनी प्रक्रिया लागू है। चीन में 10 साल तक की सजा के अतिरिक्त मृत्युदण्ड का प्रावधान है। ब्रिटेन में 6 माह से लेकर 10 तक की आजीवन कारावास की सजा है। पाकिस्तान में 10 से 25 वर्ष तक की न्यूनतम सजा, आजीवन सजा से लेकर फाँसी तक का प्रावधान है। अमेरिका में प्रत्येक राज्य की अलग-अलग कानूनी सजा है। यहाँ 5 वर्ष से 99 वर्ष तक सजा है। रूस में तीन से 6 साल तक, 10 वर्ष की सजा एवं अन्य अपराध में पाँच वर्ष की सजा जोड़कर कुल 15 वर्ष की सजा का प्रावधान है। यहाँ यह स्पष्ट है कि भारत एवं अन्य देश में महिलाओं के साथ होने वाले अपराध की सजा में भिन्नता है। किन्तु निष्कर्ष यही है कि कम-से-कम पाँच वर्ष और अधिक-अधिक आजीवन कारावास एवं मृत्युदण्ड का प्रावधान है। किन्तु इन सभी दण्ड प्रक्रिया और प्रावधानों के अतिरिक्त जब तक पुरुष-महिला के प्रति मानसिकता दृष्टिकोण एवं नियति नहीं बदलता तबतक कोई भी कानूनी व्यवस्था पर कोई भी समाज साकारात्मक बदलाव का संकल्प नहीं ले सकता है।

अपराध और अपराधी का विशेष रूप से घटना में वैविध्यपूर्ण कथात्मकता रहने के कारण अपराध करने वाला सजा से मुक्त हो जाता दिखाई पड़ता है। वर्तमान में समाज का विभिन्न पक्ष इस प्रकार के सिद्धान्त और विमर्श पर विचार कर रहा है। किन्तु वर्तमान में यह एक ज्वलंत मुद्दा है जिसपर एक-दृष्टि, एक-दर्शिता, एक-मत स्थापित नहीं हो सकता है। भविष्य में प्रशासनिक और कानूनी व्यवस्था, समाज और संस्कृति का मनोविज्ञान, स्त्री समाज के प्रति अपेक्षित संवेदनशीलता साथ ही स्त्री के प्रति आदरपूर्वक स्वीकृति और सम्मान विश्व भावना को स्थान पर ला सकता है। स्त्री-पक्ष के प्रति अत्याचार चिन्ता का विषय नहीं बनकर, विपरीत स्थिति स्थापित करेगा और सांस्कृतिक बदलाव पुल्लिंगवादी बदलाव को प्रभावशाली बनाएगा। इसमें समय की आवश्यकता है, धैर्य की आवश्यकता है। जल्दीबाजी में निष्कर्ष अपराध की प्रवृत्ति को जिद्दी बनाएगा। यहाँ हमें धैर्य की आवश्यकता है, और लोगों को विपत्ति के समय धैर्य धारण करना चाहिए साथ ही समय की भी प्रतीक्षा करनी चाहिए।



डिजिटल इंडिया : ग्रामीण समाज के लिए वरदान

– विमलेश कुमार

डिजिटल इंडिया मोदी सरकारी की महत्वाकांक्षी योजना है। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने 1 जुलाई 2015 को दिल्ली से इसकी शुरुआत की। इसके जरिए, अस्पताल, पढ़ाई, बैंकों के काम, मेल-मुलाकातें सब कुछ ऑनलाइन होगा।

डिजिटल इंडिया भारत सरकार की एक पहल है जिसके तहत सरकारी विभागों को देश की जनता से जोड़ना है इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि बिना कागज के इस्तेमाल के सरकारी सेवाएँ इलेक्ट्रॉनिक रूप से जनता तक पहुँच सकें। इस योजना का एक उद्देश्य ग्रामीण इलाकों को हाई स्पीड इंटरनेट के माध्यम से जोड़ना भी है।

इसकी शुरुआत प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी द्वारा 1 जुलाई 2015 को दिल्ली में की गई। इस अवसर पर 9 भारतीय उद्योगपति एवं 3 विदेशी उद्योगपति भी शामिल हुए। भारतीय उद्योगपतियों में सायरस मिस्त्री, मुकेश अंबानी, कुमार मंगलम बिड़ला, अनिल अंबानी, सुनील भारती मित्तल, अजीम प्रेमजी, अनिल अग्रवाल, पवन मुंजाल, हरिओम राय आदि शामिल हुए, जबकि विदेशी उद्योगपति में जापान के मिकियो कातयामा, ताइवान के पिंग चेम और फ्रांसीसी कम्पनी के डॉ॰ बर्नार्ड गेर्बर् शामिल हुए। प्रधानमंत्री का दावा है कि ये सब कुछ 6 से 8 महीने में सेवा देना शुरू कर देगा। सरकार ने इस योजना के लिए 1 लाख करोड़ का प्रावधान किया है।

डिजिटल साक्षात्कार :

इस योजना का 2019 तक कार्य पूरा (कार्यावधि) करने का लक्ष्य है। इसके लिए टू-वे-प्लेटफॉर्म का निर्माण किया जाएगा। यहाँ दोनों (सेवा प्रदाता व उपभोक्ता) को लाभ होगा। यह एक अन्तरमंत्रालीय पहल होगी, जहाँ सभी मंत्रालय तथा विभाग अपनी सेवाएँ जनता तक पहुँचाएँगे। जैसे की स्वास्थ्य, शिक्षा और आर्थिक सेवा आदि। चयनित रूप से पब्लिक प्राइवेट अन्तरराष्ट्रीय (पीबीबी) मॉडल को अपनाया जाएगा। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय सूचना केन्द्र के पुनर्निर्माण की योजना है। यह योजना मोदी

प्रशासन की टॉप प्राथमिकता वाली परियोजनाओं में से एक है। यह एक सराहनीय और सभी साझेदारों की पूर्ण समर्थन वाली परियोजना है। जबकि इससे लीगल क्रयवर्ग, गोपनीयता का अभाव, डाटा सुरक्षा, नियमों की कमी, नागरिक स्वायत्तता का हनन, भारतीय ई-सर्विलांस के लिए संसदीय निगरानी की कमी तथा भारतीय साईबर असुरक्षा जैसी कई महत्वपूर्ण कमियाँ भी हैं।

डिजिटल इंडिया का महत्वपूर्ण उद्देश्य :

डिजिटल इंडिया के तीन महत्वपूर्ण उद्देश्य हैं (3D)-

1. डिजिटल इंफ्रास्ट्रक्चर - इसके तहत पंचायतों को इंटरनेट से जोड़ा जाएगा और एक कॉमन सर्विस सेंटर तैयार किया जाएगा।
2. डिजिटल आईडी - इसके तहत देश के प्रत्येक व्यक्ति की डिजिटल आईडी बनाई जाएगी। इसके लिए मोबाईल नंबर, बैंक एकाउंट और आधार नंबर को जोड़ा जाएगा।
3. डिजिटल लिटरेसी - इसके तहत नागरिकों को ऐसी ट्रेनिंग दी जाएगी जिससे वो इंटरनेट का प्रयोग करना सीखें और ई-मेल आदि कर पाए।

हमारे जीवन को आसान बनाएगी ये सुविधाएँ :

- ई-हॉस्पिटल- ओपीडी में डॉक्टर से मिलना आसान। घर या साइबर कैफे से डॉक्टर से मिलने का समय ले सकेंगे। दिल्ली एम्स (प्रथम बार) में डायल शुरू हो गया है। जिससे कि दूर-दराज के मरीजों को शहर आने, लाइन में लगने की समस्या से मुक्ति मिलेगी।
- ई-हेल्थ- एक्सपर्ट डॉक्टरों से गाँव में टेली मेडिसिन के जरिये चिकित्सा सेवा मिलेगी। फीस भी नाम मात्र की होगी। जिससे की मरीज को बार-बार शहर आने, बड़े डॉक्टरों से समय नहीं मिलने, नीम-हकीमों के चक्कर में पड़ने से निजात मिलेगी।
- ई-अप्वाइंटमेंट- ऑनलाइन अप्वाइंटमेंट मिलेगा। मंत्रालय-विभाग के पोर्टल पर जाकर समय ले सकेंगे जिससे अधिकारी लगातार मिलने से मना नहीं कर पाएगा। हमारे पास रिकार्ड होगा कि हमने कितनी बार मिलने का समय मांगा था।
- डिजिटल लॉकर- शैक्षणिक प्रमाण-पत्र रखे जा सकेंगे। नौकरी के लिए जब भी जरूरत होगी सिर्फ इस लॉकर का लिंक देकर काम चल जाएगा। जिससे बार-बार फोटोकॉपी कराने, सर्टिफिकेट गुम होने की आशंका से मुक्ति मिलेगी।
- ई-बैग- छात्र स्कूली किताबें डाउनलोड कर सकेंगे। पहले चरण में सीबीएसई के 10वीं और 12वीं कक्षाओं में लागू होगा। जिससे कि किताबों की छपाई से होने वाली देरी से बचेंगे। बस्तों का बोझ भी कम होगा।

डिजिटल इंडिया के सामने चुनौतियाँ :

समस्या : - 6 महत्वपूर्ण समस्याएँ, जिन्हें सुलझाए बिना इंडिया नहीं हो पाएगा डिजिटल -

1. **स्पेक्ट्रम** - एक लाख करोड़ रु० की ताजा नीलामी के बाद भी स्पेक्ट्रम की कमी है। सिंगापुर, शंघाई और दिल्ली में बराबर 3जी ग्राहक हैं, लेकिन दिल्ली में इनके मुकाबले 10% स्पेक्ट्रम हैं। देश में 95.2 करोड़ सब्सक्राइबर वायरलैस हैं। सब्सक्राइबर और बढ़ेंगे। यानी स्पेक्ट्रम की जरूरत और बढ़ेगी।

- तो क्या होगा – वैसे ही देश में ट्रैफिक कंजेशन और कॉल ड्रॉप की समस्या है। यूजर बढ़ने, वीडियो एप्लीकेशन्स, नेविगेशन, शॉपिंग, बैंकिंग व कम्युनिकेशन सर्विसेज का अधिक इस्तेमाल होने से समस्या और बढ़ेगी।
 - फ़ैक्ट – अमेरिका में डाटा ट्रैफिक सालाना 80% की दर से बढ़ रहा है। फेडरल कम्युनिकेशन कमीशन के अनुसार आने वाले तीन साल में अमेरिका में स्पेक्ट्रम शॉर्टेज बढ़ जाएगी।
2. ब्रॉडबैंड कनेक्टिविटी- 1.3 अरब के देश में ब्रॉडबैंड कम हैं। अप्रैल तक करीब 10 करोड़ लोगों के पास ही ब्रॉडबैंड सेवा थी। दक्षिण कोरिया में 97% लोगों तक ब्रॉडबैंड की पहुँच है। इस साल के शुरूआती तीन माह में इंटरनेट की औसत स्पीड के मामले में भारत दुनिया में 115वें स्थान पर था।
 - तो क्या होगा- सरकार 2019 तक सभी सरकारी सेवाओं को लोगों तक ऑनलाइन पहुँचाना चाह रही है। लेकिन हमारे यहाँ कम लोगों की पहुँच इंटरनेट तक है। जो इस्तेमाल करते भी हैं, वे धीमी स्पीड से परेशान हैं।
 - फ़ैक्ट- भारत का नेशनल ऑप्टिक फाइबर नेटवर्क कार्यक्रम 3-4 साल लेट चल रहा है। 2017 तक ब्रॉडबैंड सेवा ऐसी करनी है कि हर घर को 20 एमबीपीएस तक ब्रॉडबैंड कनेक्टिविटी मिले।
 3. इलेक्ट्रिसिटी- सरकार खुद मानती है कि देश में अभी 28 करोड़ लोगों के पास बिजली नहीं है, कुछ आंकड़े तो इसे 35-40 करोड़ के आसपास बताते हैं। छोटे शहर कटौती से परेशान हैं। सेंट्रल इलेक्ट्रिसिटी अथॉरिटी के मुताबिक 2015-16 में 24,077 मिलियन यूनिट एनर्जी शॉर्टेज हो सकती है। यानी कमी बनी रहेगी।
 - तो क्या होगा- सरकार इंटरनेट एक्सेस प्रोग्राम चला रही है। सरकारी इंटरनेट सेंटर खोले जाएंगे और पोस्ट ऑफिस के माध्यम से ई-सर्विसेज की डिलीवरी की जाएगी। लेकिन जब देशभर में बिजली की भारी कमी रहेगी तो ये सेंटर संचालित नहीं हो पाएंगे।
 - फ़ैक्ट- अफ्रीका की जीडीपी का 2-3% नुकसान हर साल केवल बिजली की अस्थिरता के कारण होता है। भारत में बिजली की अस्थिरता के कारण होता है। भारत में बिजली की स्थिति खराब है। दो साल से नया पावर जेनरेशन प्रोजेक्ट घोषित नहीं हुआ है।
 4. मोबाइल नेटवर्क- देश में 42 हजार ऐसे गाँव हैं, जहाँ मोबाइल नेटवर्क कवरेज नहीं है। ऐसे में इन लोगों को डिजिटल इंडिया का लाभ कैसे मिलेगा। देश में 95 करोड़ के करीब मोबाइल यूजर्स हैं लेकिन इनमें से केवल 21 करोड़ उपभोक्ता ही मोबाइल पर इंटरनेट का इस्तेमाल करते हैं।
 5. ई-गवर्नेंस- ई-गवर्नेंस प्रोजेक्ट्स शुरू करने की बात है। इन्हें इंटरनेट से जोड़ा जाएगा ताकि ज्यादा से ज्यादा काम जनता घर बैठे कर सके। लेकिन बड़ा सवाल यह है कि देश भर के सरकारी कर्मचारियों को कैसे डिजिटल प्लेटफॉर्म पर काम करने के लिए तैयार किया जाएगा।
 6. इम्पोर्ट- सरकार डिजिटल इंडिया प्रोग्राम के तहत इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों के कल-पुर्जों का आयात भी शून्य करना चाहती है। लेकिन यह काफी मुश्किल काम है क्योंकि हम अपनी जरूरत के 65% इलेक्ट्रॉनिक उपकरण आयात करते हैं, जिसे शून्य तक लाना बड़ी चुनौती है।

निष्कर्ष :

इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस योजना के लागू होने से देश की आबादी का एक बड़ा तबका, जिसमें किसान भी शामिल हैं लाभान्वित होंगे लेकिन इसके साथ यह भी सच है कि इस योजना को लागू करने में भिन्न-भिन्न प्रकार के समस्याओं से भी जूझना पड़ेगा। इन समस्याओं को दूर करने की आवश्यकता है तभी इस योजना को सफलतापूर्वक अमलीजामा पहनाया जा सकता है। इस योजना को अमलीजामा पहनाने से देश का आर्थिक एवं सामाजिक परिदृश्य बेहतर होगा। सरकारी कार्यों में पारदर्शिता आयेगी व विकास की गति मिलेगी।

संदर्भ :

1. प्रभात खबर-2 जुलाई, 2015



Relevancy of Gandhian Economic Philosophy in Present Global Scenario

- Janardan Prasad

Apparently M.K. Gandhi is a great stalwart and miracle dignitary in the Global perspective. We percolate Gandhian economic philosophy in our day to day life. Gandhism is survived in spite of several diversities. The great scientist of 20th century Einstein predicted that Gandhi would be legend more ever nobody would believe such a great dignitary named M.K. Gandhi in human flesh, bones and blood would have born in prosperous and spiritual soul of India. Ever since we can trace out a great legacy in concern to M.K. Gandhi is itself proved when the global panchayat sabha U.N.O. declared the 2nd October the birthday of Gandhijee as the day of non-violence and truthfulness. Globally more over all the dignitaries go before statue of Gandhijee elsewhere and swear to follow truth and non-violence. Any programme initiated in the country is launched in the name of Gandhi as swachhhta Abhiyan and The Prime Minister Jan Dhan yojna have been started saying to fulfill the dream of M.K. Gandhi. There would be no exaggeration to say that Ghandhian philosophy is proper solution to any problem globally.

Introduction

Mohandas Karamchand Gandhi was born on the 2nd Oct, 1869 and paid his debt to the nature on 30th Jan, 1948 when a mad man shot him dead. Consequently the whole world sank into deep sorrow for days and the loss caused on his demise was incurable/could never be compensated. After passing matriculation he went to England to study law. He settled in South Africa as a lawyer. There he fought against racial inequality and evolved a new method of political agitation i.e. satyagrah and non-violence. After serving in South Africa for two decades, Gandhi returned to India and launched a moment which he led till 1947 when India got independence.

Gandhi was not a professional economist nor had he any desire to write to any systematic work on economic philosophy. He was primarily interested in India and its problem as he was aware of the socio-economic consequences of the British rule in India and wanted to remedy the ills caused by the foreign rulers. The English rule took away the raw materials from India and utilized them in their industries in England and brought the manufactured goods to be sold in Indian market. This resulted poverty and unemployment

in India. Now, Gandhijee believed that western pattern of growth will not solve the kind of problem which India faced.

Different Phases of Gandhian Philosophy :

Economic thought and philosophy of Gandhijee may be divided into three phases- first- Negative phase which continued from returning to India after pass out law exam from London. During this phase, he criticized the western pattern of economic development as he mentioned it in a noted historical book 'The Hind Swaraj'. Second- The positive phase from 1909 to 1934. During this phase, he presented the ideal of swadeshi. Third- The constructive programme for village regeneration and put forward the ideal of sarvodaya.

Review of Literature :

Entire Gandhian economic philosophy is nothing but details of four aspects of an individual life – consisting of Art (Money), Kama (desire), Dharma (righteousness) and Moksha (liberation). These aspects are inter related and therefore all of them should be harmoniously developed. Dr. J. K. Kumarappa said that M.K. Gandhi was greatly impressed with Kabir, Nanak, the Upanishads and the Gita. M.L. Dantwala explained show M.K. Gandhi related and impressed with preaching of a noted book 'Unto the Last' written by Ruskin.

J.J. Anjaria said that M.K. Gandhi derived actual philosophy of his life from Tolstoy who emphasized equalitarian society and simplicity of life.

Methodology :

So for as methodology of this research paper is concerned, it is well known fact that M.K. Gandhi is addressed as the "father of nation" we all call him Bapu. Methodology is a tool for collection of facts . There are two sorts of methods for collection of data and facts- primary and secondary. In this concern I have used secondary method for collection of facts regarding Gandhian economic philosophy.

Objectives of Gandhian Philosophy :

1. I have certain objectives in my mind set to analyse Gandhian philosophy which may be enumerated as follows –
2. Humanism- Man is both the means and end of all activity. He is also the measure of performance. All ideas institution and action are to be judged in tear of whether they help in building a better man.
3. Love and co-operation – An ideal society should be established in the principles of love and co-operation. Gandhijee wanted that the relation between man and man should be based on truth, love, and co-operation and on money and matter.
4. Give message of non-violence to the world - Truth and non-violence were the main weapons of the Gandhijee. He followed it is in words, action and thought i.e. (mansa, bachasa and Karmana) social transformation is to be brought through non-violence. Ends and means yields good result. An ideal society can be

established only by adopting truth and non-violence not by war and hatred.

5. Trusteeship – Economic equality is the economic aim of non-violence social change. The trusteeship doctrine gives a way out to realize such a social change. Peaceful removal of economic inequalities is possible, if the rich, after meeting their reasonable needs hold the surplus should be spent for betterment of the poor. We are only trustee of our property not owner and we must retain and possess only that part of property which is essential for our maintenance and surplus should be transferred among the poor, down trodden and the weaker section of society.

Suggestion :

Gandhian economic policy should be related with people participation and their concerted effort. Gandhian ideology is based on the Swadesi spirit. Every happiness lies in the curtailment of wants and not in their multiplication. As be observed the less you possess, the less you want. It should be implemented in life of every one. Gandhijee considered untouchability as black spot against humanity. He opposed English rule and foreign cloth. He was interested to make education practical which should be followed in present global scenario. It should be related with hand so that student passing out from their institution may not hate the manual labour. They must give proper respect to labour.

Once Gandhijee declared if he is made dictator of India, he would bring some reform. First he would make an untouchable the ruler of India i.e. as the P.M. of this country .He would get all the liquorshop stopped. If Gandhian philosophy of love and - violence is implemented as carnage happened at Mohanpur in Rohtas district where a dalit named Sai Ram was burnt alive would not have happened. Another occurrence where five Dalit's girls were rapped collectively at Kurmuri in Bhojpur district of Bihar. If people all over the world follow Gandhian philosophy, tension and tussle would be tackled.

Conclusion :

If Gandhian Philosophy peace and non-violence would have followed, there would not have caused tension between India and Pakistan where Pakistan has violated ceasefire. Tension between America and Serbia, Iraq and Iran would have been resolved where America is likely declare war. If Gandhian philosophy of trusteeship would have followed, I am sure , coal scam, deposit of black money in Swiss bank, charges against Jay Lalita for keeping money more than income would not have happened. If Gandhian philosophy is enforced properly, swachachhatta Abihiyan i.e. make India clean, set the Ganga free from pollution would be absolutely successful. This is how communal unity, Removal of untouchability, prohibition, Khadi, Village sanitation, upliftment of woman, basic education, forcement of charkha, economic equality all should be implemented. GandhiJee remained aloof from power, post and chair, all should follow traits of Gandhi. He favored decentralization of power, small scale industry, use of swadeshi goods and use of indogeneous language.

References :

1. My Experiment of Truth – M. K. Gandhi
2. Trusteeship – M. K. Gandhi
3. Gandhian Thought J. B. Kripalani
4. An Essay on Gandhian Economic – J. J. Anjaria
5. Economics of Khadi – Dr. Rajendra Prasad
6. Gandhism Reconsidered - M .L. Dantwala
7. Interactive discussion About Gandhian philosophy with – Prof R.P.P. Singh, V.C. of Kolhan University, Jharkhand, Dr. Tappan Sandilya Ex. V.C. of V.K.S.U. Ara, Prof S.D.N. Sardar Ex. Chairman B.U.S.C., Patna.



Inclusive Education : A Distant Reality

- Sujata Chandra

Abstract

Inclusive Education, a premise for an inclusive, egalitarian & composite society which accepts respects and accommodates diversity is far from true and real. Defined by UNESCO as a "process of addressing and responding to diversity of needs of learners through increasing participation in learning, cultures and communities and reducing exclusion from education and from within education. Within an inclusive education approach, learning environments are fostered where individual needs are met and every student has an opportunity to succeed. Focusing particularly on vulnerable, handicapped and marginalised groups, it seeks to develop the full potential of every individual. This concept and approach remains an elusive reality. Most of them, scheduled caste and handicapped still remain educationally, socially and economically backward. In these years after independence at least three generation of scheduled castes have come but by and large their plight remains much the same as before. Exclusion is a stark reality. It does not only refer to millions of children for whom access to education is denied or those who drop out before completion. It happens every day to those in schools who are segregated or discriminated against due to social condition, ethnic origin, cultural background, gender or other individual characteristic or capacities. If policies, contents and teaching approaches are not adapted according to the diversity of the students, they will not have the conditions to learn effectively the skills that will allow them to be successful in work and life. The analysis critically reviews the need of inclusive education in India and striving towards making inclusive education a reality for an overall full fledged development.

Key Word : Marginalised group, Vulnerable group, Differently abled.

Inclusive Education : Addressing Exclusion and Indicating a Paradigm Shift

Education is acknowledged as the most effective means of bringing about a social change. However it should also be all encompassing. It is believed that children who learn together also learn to live together. Inclusion is an effort to ensure that diverse learners, those with disabilities, different language and cultures, different family lives,

interest and ways of learning are exposed to teaching strategies that reach them as individual learners. Inclusive education is based on the right of all learners to a quality education that meets basic learning needs and enriches lives. According to UNESCO (2003), inclusion should also include children from disadvantaged groups of all races and cultures as well as the gifted & the disabled. It is concerned with the education and accommodation of all children in society, social or linguistic deficit. Inclusion tries to reduce exclusion within the education system by tackling responding to & meeting the different needs of all learners (Booth 1991). According to Nawada, this tries to bring all student together in one class room and community regardless of their weakness in any area and seeks to maximise the potential of all students. According to B. Lingdquist, UN- Rapporteur 1994 - "All children and young people of the world with their individual strengths and weakness, with their hopes and expectation, have the right to education. It is not our education systems that have a right to certain types of children. Therefore it is the school systems of a country that must be adjusted to meet the needs of all children". Inclusive education is based on the rights of all learners to quality education that meets basic learning needs and enriches lives. The ultimate goal of inclusive quality education is to end all forms of discrimination and foster social cohesion. This involves changing the education system so that it can accommodate the unique styles and way of learning of each learner and ensure that there is a quality education for all through the use of proper resources, suitable curricula, appropriate teaching strategies and partnership within the community (UNESCO, 1994). Inclusion will not happen instantly but requires careful planning and thinking, positive attitude and behaviours and utilising the necessary specialised support, accommodations and adaptation to ensure all children become part of school. (Burstein, Sears, Wilcoxon, Cabello and Spagua, 2004). The children actively participate in education system and later become fully contributing members of society (Department of Education, 2011).

An inclusive education system is the most effective tool for developing necessary skill and building solidarity among young people with special needs with their peers. It also creates a path for being better prepared for all kind of work opportunities. Students need acquire the competencies and appropriate qualification for life in an ever changing and increasingly plural and interdependent political and economic landscape of the 21st century.

Inclusion of children with special education needs become a matter of priority in many countries of the world. Reform towards inclusion of children with varied background and diverse needs continues across the world. The implementation of inclusive education requires dedication and willingness.

Principles of Inclusion

The UNESCO Salamanca statement and Framework for action on special needs education (1994) articulated the underlying principles on which inclusive education is based. It affirmed that :

- Every child has a fundamental right to education.
- Every child has unique characteristics, abilities, interests and learning needs.

- Education system needs to accommodate this diversity in student population.
- Those with special education needs must have access to regular schools.
- Regular schools with an inclusive orientation are the most effective means of combating discriminatory attitudes, creating welcoming communities, building an inclusive society and achieving education for all.

Characteristic of Inclusive Education

- Acknowledges that all children can learn.
- Acknowledges and respects difference in children, age, gender, ethnicity, language and & disability.
- Enables education structures, system and methodologies to meet the needs of all children.
- Is an integral part of a wider strategy to meet the needs of all children.
- Is a dynamic process that is perpetually evolving.

Needs and Rationale of Inclusive Education

It has been agreed unanimously that education can effectively enhance the potential of handicapped marginalised and weaker sections of the society especially the scheduled castes and tribes. So a large scale expansion of educational facilities in rural areas were undertaken with a naive assumption that poverty prevents children from attending schools. It was assumed that once the child enters the school, the education system would take care of such student. However, the education system as evolved from the colonial era with its built in bias in favour of middle class values and English language, favoured the children from urban middle class background. The process of education aligned itself with the middle class families and was built upon the inputs the child brought from better family environment and educated parental backgrounds. The equality of educational opportunities through facilitating access to education was found to be inadequate and a need was felt for additional strategies for supporting marginally and weaker groups. Therefore the central and State Governments took a number of initiatives to improve enrolment, retention and achievement of weaker and marginalised children. However, there is need to establish interlinks and collaboration among various organisations to prevent overlapping, duplication and contradiction in programme implementation.

However, the last two decades have splot the decline of the welfare state under the powerful impact of the global economic forces and Neo-liberal economic policies. The egalitarian ethic underlying planned change and development is being rapidly decimated. The ideology of the Indian State's New Economic Policies emphasises the pre-eminence of markets and profits. In the context of an elite dominated consensus on the inevitability of liberalisation and structural adjustment, the predominant problems and debates of education have undergone major shifts. Structural adjustments have provided the legitimacy and impetus for a number of educational reforms that pose a direct threat to the mission of universalisation elementary education and equalising educational opportunities for weaker sections.

The state is withdrawing from social sectors of education and health and delegating its social commitments and responsibility to private agencies and governmental organisation. There is already enough indicators that basic educational needs of the weaker sections is getting seriously undermined under the new dispensation, adversely affecting the life chances of vast sections of those vulnerable groups who are yet to make the shift to first generation learning. Therefore community involvement and partnership between govt. agencies and NGO's is required to promote Inclusive Education. Sensitization of masses towards disability and inclusion issues and how to converge efforts for effective Implementation of inclusive education programmes are important concerns.

The attitude that inclusive education is not an alternative but an inevitability if the dreams of providing basic education to all children is to ever become a reality needs to be cultivated. Inclusion without "adequate" preparation of general schools will not yield satisfactory results. It is essential that issues related to infrastructure facilities, curriculum modification and educational materials should be addressed. If the right to education for all is to become a reality, we must ensure that all learners have access to quality education that meets basic learning needs and enriches lives.

"The UNESCO convention against discrimination in Education" (1960) and other international human treaties prohibit any exclusion form or limitation to educational opportunities on the basis of specially ascribed or perceived differences such as sex, ethnic group, languages, religion, nationality, social origin, economic condition, ability etc. Education is not simply about making schools available for those who are already able to access them. It is attempting to access opportunities for quality education as well as removing barriers and obstacles that lead to exclusion.

References :

- Ashok Kumar : Current Trends in Indian Education, New Delhi, Ashish Pub. House, 1991.
- Foreman, P. (2005) Inclusion in Action (2nd Ed) Victoria; Nelson Australia Pub.
- Interview - Clementia - Eng. 13 Nov. 2011 www.ibe.unesco.org
- Inclusive Ind. Pdf., www.unicef.org
- Lindsay Peer (2011) Special Educational Needs, SAGE Publications, New Delhi.
- Mani, M. N. G. (2002) Inclusive Education in the Indian Context Coimbatore.
- Raoidumathi (2002) Understanding Inclusive Education from Heart, E ENET Newsletters and Wels Publication.
- Singhal, N., (2008) Working Towards Inclusion; Reflections from the classroom, Vol. 24(6) 1516-1529 from Supervision and Curriculum Development.
- [study-hp.pdf](#) planning.commission.on.nic.in.
- Timmons V. (2002), The Journey of Inclusion, National Resources Centre, India. (A CIDA funded project)

SATRAACHEE

Research Journal of Social Sciences & Humanities

Membership Form

Dear Editor,

*I wish to be a Five year Member / Life Member of
"Satraachee".*

Name (In Block letters):

Correspondence Address :

.....

.....

Institutional Address:

.....

Mob. No. :

Email :

Profession :

Rs./Remitted by DD No / Cheque No. :

Banker's Name :

Fee for Membrship :

Five year : Rs. 3,000/- :: 4,000/-

Life Time : Rs. 5,000/- :: 7,000/-

Signature

Notes for Contributors

- **सत्राची** अपने सहयोगियों से यह उम्मीद करती है कि उनका आलेख 2500 से कम और 4000 शब्दों से अधिक न हो।
- शोधकर्ता/सहयोगी लेखक लेख का टंकण ए4 पेपर साइज में ही कराएँ। हिंदी के लिए पेजमेकर, वॉल्कमैन चाणक्या 901/902, कृति देव 10, फॉन्ट साइज 14, ऑटो लिडिंग तथा अंग्रेजी के लिए एम. एस. ऑफिस/पेजमेकर, Times New Roman (12pts) का प्रयोग करें। पेजमेकर तथा वॉल्कमैन चाणक्या की सुविधा न होने पर एम. एस. ऑफिस में यूनिकोड का उपयोग कर सकते हैं। अन्य फॉन्ट में आलेख स्वीकार नहीं किया जाएगा।
- संपादक / सलाहकार समिति को आलेखों के सुधार-संशोधन, संक्षिप्तीकरण का पूर्ण अधिकार होगा। इस मुद्दे पर किसी प्रकार का कोई विवाद स्वीकार्य/विचारणीय नहीं है।
- आलेख में अभिव्यक्त दृष्टिकोण के प्रति संपादक/सलाहकार समिति के सदस्य जिम्मेदार नहीं होंगे।
- शोधकर्ताओं/सहयोगी लेखकों को आलेख भेजते हुए यह सुनिश्चित (प्रमाणित) करना होगा, कि इससे पहले उन्होंने संबंधित लेख को प्रकाशनार्थ अन्यत्र नहीं भेजा है, और कालांतर में वे इसे कहीं और प्रकाशन हेतु नहीं भेजेंगे।
- कृपया अपना आलेख निम्नांकित क्रम में व्यवस्थित करें :

• आलेख का शीर्षक	(Title of the article)
• भूमिका या प्रस्तावना (अधिकतम 200 शब्दों)	(Abstract in 200 words)
• मुख्य भाग	(Main part)
• निष्कर्ष / उपसंहार	(Conclusion)
• संदर्भ	(References)
- कृपया संदर्भ को इस क्रम में व्यवस्थित रखें : लेखक का नाम, पुस्तक/आलेख/जर्नल का नाम, प्रकाशक का नाम, प्रकाशन स्थल, प्रकाशन वर्ष और पृ० सं० ।
- पाद-टिप्पणी का प्रयोग वर्जित है। आलेख में इन टेक्स्ट साइटेशन (Intext Citation) अतिआवश्यक है।
- माप के लिए अंतरराष्ट्रीय मानक इकाई (मेट्रिक प्रणाली) का ही प्रयोग करें।
- **सत्राची** के स्थायी सदस्यों को प्रकाशन हेतु प्राथमिकता दी जाएगी। सदस्यता छपने की अनिवार्य शर्त नहीं है। लेखकों की सदस्यता अपेक्षित है।
- लेखक / शोधार्थी अपना शोधालेख satraachee@gmail.com पर प्रेषित करें। सदस्यता के लिए शुल्क का भुगतान बैंक ड्राफ्ट (**In favour of satraachee, Payable at Patna / सत्राची के पक्ष में, भुगतये पटना**) के द्वारा या नगद भी कर सकते हैं। शुल्क का भुगतान बैंक में नगद राशि जमा करके भी किया जा सकता है। नगद भुगतान अथवा खाता संख्या के लिए संपादक से संपर्क करें। सदस्यता फार्म वेबसाइट से डाउनलोड कर उसे अच्छी तरह साफ अक्षरों में भरकर फार्म का स्कैन फाइल ई-मेल कर सकते हैं या संपादक को शुल्क के साथ स्वयं भी दे सकते हैं।

'Woman's Body'

- A novel by J.P. Singh

'Woman's Body' is a thought provoking English fiction which deals with the problem of unemployment of Indian youths despite being quite efficient and deserving. It also focuses and highlights the visionlessness in the institutions and system which gives rise to a chaos like situations and infinite hunger in the common youths.....!

**Publisher : Jagriti Publication, Patna
Near Science College**

Price : Rs. 125 only

